श्री विजयधर्मसूरि जैन ग्रन्थमाला पुष्प ६१

ईश्वरवाद

लेखकः मुनिराज श्री विद्याविजयजी

वीर सं २४७८ धर्म सं २७ वि सं २०

मूल्य १-४-०

प्रकाशक
सत्यनारायण पण्ड्या
मंत्री, विजयधर्मसूरि जैन ग्रंथमाला
शिवपुरी (ग्वालियर)

सहायक
५०८ पुस्तक
धर्मप्रेमी
श्रीमान् सेठ अमीचंदजी कासटिया
भोपाल

मुद्रक
आनन्द प्री प्रेस
भावनगर



સ્વ૦ શાસ્ત્રવિશારદ જૈનાચાર્ય
શ્રી વિજયધર્મસૂરીશ્વરજી મહારાજ

विषयानुक्रमणिका

ईश्वरवाद

मुनिराज विद्याविजयजी



प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में ईश्वर के विषय में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। आस्तिक कहेजानेवाले दार्शनिकोंने ईश्वर के अस्तित्व को दिखलाते हुए उसके प्रति बहुत कुछ सम्मान दिखलाया है, यहां तक कि संसार की उत्पत्ति से लेकर संसार की प्रत्येक घटना में ईश्वर के ही कर्तृत्व का आरोप किया है। कुछ दार्शनिकोंने ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप नहीं करते हुए भी, उसी के ऊपर सभी कुछ छोड़ दिया है।

चार्वाक जैसे नास्तिक कहेजानेवाले दार्शनिक ने ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार किया है। जैन दर्शन के विषय में लोगों की मान्यता अभी तक बहुत ही भ्रमपूर्ण चली आ रही है। प्रायः जैनेतर लोगों का यह कथन है कि 'जैन दर्शन ईश्वर को नहीं मानता, अत एव वह नास्तिक दर्शन है।' आस्तिक नास्तिक का झगड़ा अपनी अपनी मान्यताओं के अनुसार, परम्परा में, एक दूसरे के साथ चला आ रहा है। वास्तविकता को समझने की बहुत ही कम लोग चेष्टा करते हैं। एक ने कहा-"नास्तिको वेदनिंदक" दूसरे ने कहा-"नास्तिको जैननिंदक" तीसरे ने कहा "नास्तिको बौद्धनिंदकः"। इस तरह परस्पर एक दूसरे को नास्तिक दिखलाने की कोशिश करते रहते हैं। पर सच बात यह है-"नास्तिको नास्ति वादका नास्ति आत्मा, नास्ति पुण्यम्, नास्ति पाप, नास्ति स्वर्ग, नास्ति मोक्षः।" इस प्रकार हरएक वस्तु में नास्तित्व को स्वीकार

करनेवाला नास्तिक है। मेरी राय है कि संसार में जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह ईश्वर के अस्तित्व को अवश्य स्वीकार करेगा ही। यदि कुछ भी मतभेद है, तो वही ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप करने के ही विषय में है। ईश्वर को मानते हुए उसमें कर्तृत्व का अस्वीकार करना कोई 'नास्तिकवाद' नहीं है। वर्तमान समय में, विशेष कर के पठित वर्ग में ईश्वर की अस्वीकृति की एक खास प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। इसी के परिणामस्वरूप " ईश्वर और धर्म ढोंग है " तथा "ईश्वरनो इन्कार" इत्यादि पुस्तकें हमारे दृष्टिगोचर हो रही हैं। इन पुस्तकों के अत्यंत सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि वस्तुतः ईश्वर की अस्वीकृति सम्बन्धी जो विचारधारा पठितवर्ग में वेग से प्रवाहित हुई है, उसका कारण ईश्वर का अस्तित्व नहीं, किन्तु ईश्वर में कर्तृत्व के स्वीकार की मान्यता ही है। अरूप, अतन, निष्क्रिय, रागद्वेष रहित,

शुद्ध सच्चिदानन्दमय, इच्छाओं से परे रहनेवाले ईश्वर का संसार की प्रत्येक घटना में सम्बन्ध स्थापित एवं प्रदर्शित करना, कितनी अप्राकृतिक एवं असंगत बात है ? इन्हीं धारणाओंने लोगों में अनीश्वरवाद की उत्पत्ति की है। सम्पत्ति का देना और बाद में छीन लेना, पुत्र का देना और फिर लेलेना आदि ऐन्द्रजालिक खेल ईश्वर जैसी वीतराग और निष्क्रिय शक्ति में आरोपित करना कितनी अनोखी, असंगत और अन्यायपूर्ण बात है ? समझदारों के मस्तिष्क में ये बातें तर्कानुरूप नहीं जचतीं, इसीलिए वे ईश्वर का अस्वीकार करते हैं। जैन दृष्टि से ईश्वर का विचार भिन्न रीति से ही किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व का स्वीकार करते हुए और ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हुए, ईश्वर में जगत् के कर्तृत्व का और जगत की किसी भी घटना में ईश्वर के हस्तक्षेप का कोई आरोप नहीं किया जाता। इस प्रकार जैन दृष्टि से, ईश्वर, न तो हमारे ऊपर उपकार

करता है और न अपकार ही । फिर भी वह पूज्य है, माननीय है, उपास्य है, ध्येय है। यह जैनदर्शन का सिद्धान्त है । और इसकी सिद्धि के लिये जैनदर्शन की जितनी भी दलीलें हैं, वेही इस छोटी सी पुस्तिका में, वर्णन की गई हैं।

हम इस छोटी सी पुस्तिका में ईश्वर का अस्तित्व, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर की एकरूपता तथा अनेकरूपता, ईश्वर और जगत का सम्बन्ध, जगत की उत्पत्ति का कारण, ससार की प्रत्येक घटना का रहस्य, ईश्वरोपासना का कारण तथा कैसे करना चाहिये ? इत्यादि बातों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

आशा है, पाठक इसको पढते समय अपने मस्तिष्क को कोरे कागज की तरह निर्मल और निर्विकार रखेंगे तथा अपने पूर्व विचारों को मस्तक से दूर करके वास्तविकता को समझने की चेष्टा करेंगे।

ईश्वर का अस्तित्व–

– २ –

ईश्वर के अस्तित्व पर विचार करने के साथ ही एक वस्तु हमारे सम्मुख आती है और वह है जगत्। आज जिसको हम जगत् कह रहे हैं, उसमें पृथ्वी, पानी, वायु, तेज आदि पदार्थ विद्यमान हैं। हम देखते हैं कि इस विचित्र संसार में कोई राजा है और कोई रंक, कोई पदार्थ घटता है तो कोई बढ़ता है और कोई पदार्थ ज्यों का त्यों हमेशा एक सी स्थिति में देखा जाता है। यह सब जगत् के पदार्थों की क्रियाएँ हैं। इस समस्त पदार्थों और क्रियाओं का हम जगत् शब्द से व्यवहार कर रहे हैं। प्रश्न यह पैदा होता है कि यह जगत् वस्तुतः क्या है?

कुछ लोगों का कहना है कि 'जो पदार्थ देखे जाते हैं अथवा जिनका हम अनुभव कर रहे हैं वस्तुत वे कोई चीज नहीं हैं । यह केवल आत्मा की भ्रान्ति मात्र है । जैसे स्वप्न में कोई खाता है, किन्तु उसकी भूख नहीं मिटती, अर्थात् स्वप्न का भोजन भ्रान्ति मात्र है । इसी प्रकार अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को मनुष्य सर्प समझ लेता है, वस्तुत वह सर्प नहीं । इसी प्रकार का यह जगत् है । किन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा कि वस्तुत ऐसा है नहीं । जो चीज है ही नहीं उसका आघात, प्रत्याघात कभी हो नहीं सकता । खरगोश को सींग नहीं होते, इसका अर्थ यह है कि सींगों का खरगोश में अभाव है । यह कोई कैसे कह सकता है कि ' खरगोश का सींग मुझे लगा ' । रज्जु में सर्प की भ्रान्तिवाला मनुष्य उसको सर्प समझकर भयभीत होजाता है और दूर हट जाता है । स्वप्न में सिंह को देखकर मनुष्य डर जाता है, किसी सुन्दर वस्तु को

देखकर प्रसन्न हो जाता है, किसी को देखकर
विरागी होजाता है। यदि संसार कोई वस्तु
ही न होती तो उपर्युक्त परिणाम दृष्टिगोचर होने
ही नहीं चाहिये। हर्ष, शोक, भय आदि
की उत्पत्ति ही वस्तु के अस्तित्व का
प्रमाण है। यदि भोजन कोई वस्तु ही नहीं है,
तो क्षुधा की निवृत्ति नहीं होनी चाहिये। इसी-
लिये कहना पड़ता है कि संसार है-जगत है-
और यह अनन्त पदार्थों का भण्डार है। उसका
अस्तित्व स्वीकार नहीं करना प्रकाश को अंधेरा
बताने के तुल्य है।

यदि स्वीकार करलें तो वेदान्त में " सत्य
ब्रह्म मिथ्या जगत् " कहा गया है, यह क्यों
बेशक, ब्रह्म-आत्मा-ईश्वर-यह सत्य है, शाश्वत
है, नित्य है और जगत् मिथ्या है। इसमें कोई
मतभेद नहीं, किन्तु 'मिथ्या,' शब्द के अर्थ में
वास्तव में मतभेद है। 'मिथ्या' का अर्थ है
नाशवान-अनित्य, न कि अत्यन्त अभाव। जगत

के कुल पदार्थ जो हमारी दृष्टि से देखे जाते हैं, अनुभव किये जाते हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं, प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। ऐसे अनित्य पदार्थों के प्रति अनासक्ति रखना यही "सत्य ब्रह्म मिथ्या जगत्" का आशय है। आत्मा को ऐसे अनित्य पदार्थों में आसक्त नहीं होने देने के लिये ही यह कथन कहा गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, जगत् जैसी चीज कोई है ही नहीं, अथवा जगत् में सिवाय 'ब्रह्म' के-सिवाय 'आत्मा' के-कोई पदार्थ ही नहीं।

शब्दों का व्यवहार हमेशा सापेक्ष हुआ करता है। किसी भी शब्द का उच्चारण तभी होता है, जब उसकी सार्थकता बतानेवाली वस्तु हो, अन्यथा नहीं। हम कहते हैं कि, 'वह बड़ा सज्जन मनुष्य है।' इससे स्पष्ट है कि कोई दुर्जन भी अवश्य है। सत्य, असत्य, चोर, साहूकार, नीति, अनीति, श्वेत, श्याम कुछ भी कहिये, जो कुछ भी कहेंगे, उसके प्रतिपक्ष में

परन्तु संसार में जो सुख है वह क्षणिक है अथवा यों कहना चाहिये कि दुःख की क्षणभर की निवृत्ति मात्र को सुख कहते हैं। मनुष्य यही चाहता है कि मैं वर्तमान स्थिति की अपेक्षा विशेष सुख प्राप्त करूं और वह सुख हो स्थायी। दुःख का नाम भी न रहे और शाश्वत सुख हो।

किन्तु सोचनीय यह है कि ऐसा शाश्वत सुख प्राप्त कैसे हो। इसका अत्यन्त ही सीधा और सरल उत्तर यह है। जिसने उस सुख को प्राप्त करलिया है और जो उस सुख का अनुभव कर रहा है उसका समागम-उपासना-करने से शाश्वत सुख मिल सकता है। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु उसी से प्राप्त हो सकती है, जिसके पास वह विद्यमान है और वह प्राप्त की जासकती है। उसके नजदीक जाने से-उपासना करने से-संगति करने से दरिद्र मनुष्य धनवान के पास से ही धन एकत्रित कर सकता है। संसार में दुःखी मनुष्य यदि आत्मा

की शान्ति प्राप्त करना चाहता है, तो उसको चाहिये कि वह उसके पास जाय, जिसने ससार की उपाधियों को छोडकर आत्मिक शान्ति को प्राप्त करलिया है। वेश्याभिलाषी उसी मनुष्य की खोज करता है, जो वेश्यागामी होता है। इसी प्रकार चरम सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को उसी की उपासना करनी चाहिये, जिसने शाश्वत सुख की प्राप्ति कर ली है। ऐसे शाश्वत सुख को भोगनेवाला, यदि कोई है तो वह केवल ईश्वर–परमात्मा। जिसे शास्त्रकारोंने सिद्ध कहकर भी पुकारा है। ऐसे मोक्षगामी जीव शाश्वत सुख के स्वामी हैं। ससार में रहते हुए कोई भी जीव चरम सुख को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि ससार तो दुःखमय है—

ससारात्मा सदा दुःखी
जन्म–मरण–शोकभाक्।
चतुरशितिलक्षासु
योनिषु भ्राम्यते सदा।

अर्थात् जन्म, मरण और शोक में डूबा हुआ ससारी आत्मा हमेशा दु खी ही है, और वह चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता रहता है।

ससार में जिस सुख का अनुभव किया जाता है वह वस्तुतः सुख है या नहीं यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। यह हम पहिले ही लिख चूके हैं कि, ससार में जिन सुखों का अनुभव किया जाता है, वे दु.ख की क्षणिक निवृत्ति मात्र हैं। एक मनुष्य कामज्वर से पीडित है अत' वह विषय का सेवन करता है। वह समझ लेता है कि इससे मुझे सुख हुआ, परन्तु यह भूलजाता है कि कामज्वर की औषधि-विषयसेवन को अंगीकार करने से ही वह ज्वर दूर हुआ है। इसमें सुख क्या है? भूख लगी और भोजन किया तो भूख नष्ट होगई। ठण्ड लगी तो कम्बल से बदन को आच्छादित करलिया, उंगली पकी तो ऑपरेशन करवाया, जिससे पीर वह निकल गया और समझलिया कि सुख होगया। किन्तु

सुख क्या हुआ ? जिसको भूख लगी नहीं वह खाकर भला कैसे सुख माना सकेगा ? जिसकी अगुली पकी नहीं, उसे ऑपरेशन कराकर क्या सुख मिलेगा ? जिसको ठण्ड लगी नहीं, वह कम्बल ओढ़कर क्या करेगा ? उपर्युक्त वस्तुओं की भला उसे जरूरत ही क्या रहेगी ? इससे यह निश्चय होचुका कि, ससार में जितने भी सुख देखे और सुने जाते हैं, वे क्षणभर के लिये दु ख की निवृत्ति मात्र हैं। समय टल जानेपर वे ही दुःख फिर आकर अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगते हैं। वास्तविक सुख-स्वाभाविक सुख-शाश्वत सुख-वह है जो प्राप्त होने के बाद नष्ट नहीं होता। दु,ख उत्पन्न ही न हो अर्थात् सर्वथा दुःख की निवृत्ति होजाय, वही शाश्वत सुख है । ऐसे सुख के भोगनेवाले व्यक्ति की सगति मे ही शाश्वत सुख की उपलब्धि हो सकती है। ऐसा व्यक्ति यदि कोई है तो वह एकमात्र ईश्वर है-परमात्मा सिद्ध है, जो संसार से सर्वथा पर है।

यहाँ यह शंका की जासकती है कि यह कैसे कहा जासकता है कि एक ईश्वर ही है जो परम सुख—शाश्वतसुख—को ही भोग रहा है? हम इस प्रश्न का जवाब, न केवल शास्त्र के आधार से ही, बल्कि युक्ति और अनुभव से भी देने की चेष्टा करेंगे।

यह पहिले कहा जुका है कि, शब्दों का उच्चारण सापेक्षित है, इतना ही नहीं, वस्तुमात्र सापेक्षित है, अर्थात् यदि संसार है तो संसार से परे कोई वस्तु होना ही चाहिये और उस वस्तु का नाम है मोक्ष–मुक्ति–सिद्धि। संसार बन्धन है और बन्धन से परे है मुक्ति। संसार में आधि, व्याधि और उपाधि है। इन त्रिविध तापों से दूर रहनेवाला जीव सिद्ध–मुक्त आत्मा है–ईश्वर है। अगर संसारी जीव दुःखी है तो मुक्तात्मा जीव परम सुखी है, यह स्वाभाविक ही है। और इसी कारण संसारी जीव को 'आत्मा' और मुक्त जीव को 'परमात्मा' कहते हैं।

आत्मा सो परमात्मा

– ४ –

ईश्वर के विषय में विचार करते ही हमारे सामने जगत् का स्वरूप समझने की आवश्यकता खड़ी होती है। जगत् क्या है? जगत् शब्द से जिसका व्यवहार होता है, उसमें कौनसी चीजें समाविष्ट होती हैं? सुखदुख का अनुभव किसे होता है? मनुष्य से लेकर पशु, पक्षी तक की भिन्न भिन्न स्थितियों का कारण क्या है? ये समस्त बातें विचारणीय हैं और इनका विचार हम आगे करेंगे। किन्तु इस समय हमें यह देखना है कि संसार में मुख्य कौनसे पदार्थ हैं और उनका स्वरूप क्या है?

हमारे समक्ष आनेवाली वस्तुओं में सिर्फ

दो प्रकार की वस्तुएँ ही देखी जाती हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनकी स्थिति हमेशा एकसी रहती है। ये परिवर्तनशील नहीं होते। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनमें घटना, बढ़ना आदि विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ नजर आती हैं। शास्त्रकारों ने इन दोनों प्रकार के पदार्थों का नाम रखा है *जड और चेतन। जिनमें स्वतः कुछ भी क्रिया* नहीं होती, यह जड है और जिनमें क्रियाएँ होती हैं उनका नाम है चेतन। क्रियाओं के होने और न होने में कुछ तो कारण अवश्य होना ही चाहिये। जिस शक्ति के कारण पदार्थ में क्रियाएँ होती हैं, उस शक्ति का नाम है चेतन अथवा आत्मा।

कुछ लोगों का कहना है कि जगत् में चेतन अथवा आत्मा जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, किन्तु जब दो पदार्थों में क्रियात्मक और अक्रियात्मक भेद देखा जाता है, तो उसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए। उसका जो कारण हो, उसको हम

'आत्मा' शब्द से व्यवहार करते हैं । एक बात और है। हम पहिले ही लिख चुके हैं कि शब्द का प्रयोग सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष शब्द का प्रयोग कभी भी नहीं होता । संसार में न तो अकेला जड़ पदार्थ ही रह सकता है, न अकेला चेतन ही । हमारे जीवन में भी दो पदार्थ हैं जड़ और चेतन । शरीर, जो एक दृश्यमान पदार्थ है, जड़ है और शरीर की जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, वे 'चेतन' के कारण से । शरीर में एक ऐसी शक्ति विद्यमान है, जिसके कारण से ये सारी क्रियाएँ हो रही हैं और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, दृश्यमान शरीर ज्यों का त्यों रहते हुए भी एक ऐसा समय भी आता है, जब इस शरीर की समस्त क्रियाएँ बन्द होजाती हैं । इसका यही कारण है कि वह शक्ति जिसे हम आत्मा कहते हैं, शरीर से दूर होजाती है और दूर होजाने से सारी क्रियाएँ बन्द होजाती हैं । इसका नाम है मृत्यु । और इस शक्ति की उपस्थिति

में हमें जो सुख दुख का अनुभव होता है, यह उस शक्ति के दूर होजाने से नहीं होपाता। इससे यह सिद्ध होता है कि सुख दुख को भोगनेवाला यह दृश्यमान शरीर नहीं, किन्तु वही आत्मा है।

इस आत्मा के सम्बन्ध में सभी शास्त्रकारोंने अपने अपने अनुभव लिखे हैं। आत्मवादी सभी दर्शनकार इस बात को मानते हैं कि आत्मा अरूप है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अतीन्द्रिय है और निष्क्रिय है। फिर भी संसार की विचित्रताएँ इस बात को प्रमाणित करती है कि अरूपी, अच्छेद्य, अभेद्य और निष्क्रिय आत्मा के साथ ऐसा कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिये जिसके कारण यह सब भेदानुभेद और विचित्रताएँ देखी जाती है। यह वही कारण है, जिसको हम कर्म, माया तथा आवरण आदि नामों से पुकारते हैं। इस कर्म के विषय में हम आगे लिखनेवाले हैं, इस लिए उस विषय में यहाँ अधिक न

लिखते हुए, सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि इन्हीं कर्मों–आवरणों के कारण आत्मा के तीन भेद माने गये हैं। वस्तुतः शुद्धस्वरूप, सच्चिदानन्दमय आत्मा के भेद नहीं होसकते, किन्तु आत्मा से सम्बद्ध इन आवरणों की निचिश्रता की वजह से, 'कारण में कार्य का उपचार' करके तीन भेद कहे गये हैं। पहिला बहिरात्मा, दूसरा अन्तरात्मा और तीसरा परमात्मा। यहाँ हम तीनों प्रकार के आत्माओं का स्वरूप समझाने की चेष्टा करेंगे।

बहिरात्मा—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ
यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो
मोहनिद्रास्तचेतनः॥

शरीर, धन, पुत्र, माता, पिता, पति,

शरीर और संसार के सब पदार्थ मेरे हैं ऐसा मानता है। मुझसे ये अलग नहीं, इन्हीं से मैं बना हूँ अर्थात् देहादि जिसे के विषय में आत्म भाव होजाता है, वह बहिरात्मा है। उसका जो आत्म से भिन्न पदार्थों से ये अपनापन रखता है वह बहिरात्मा है।

संसार के बहुत से जीव इसी दशा में हैं जिनका उद्देश्य सिर्फ खाना, पीना, ऐशआराम, विषय [illegible] और धन के संग्रह के लिए रहता मात्र है। उनके अन्दर [illegible] आध्यात्मिक भावना की कभी [illegible] भी नहीं [illegible]। ऐसे जीवों को बहिरात्मा कहना चाहिए। इन जीवों का धर्म के प्रति इस प्रकार [illegible] हुए हैं कि जिन के [illegible] और कोई [illegible] ही नहीं रहती।

इस बहिरात्मा से [illegible] अर्थात् उन सब भावनाओं को कम करके जो आत्मा अपने को इन पदार्थों में लिप्त बनाता है, अर्थात्

आत्मा में ही ' आत्मबुद्धि ' को स्थिर कर लेता है, उसको अन्तरात्मा कहते हैं। कहा है —

बहिर्भावानतिक्रम्य
यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञै-
र्विभ्रमध्वान्तभास्करैः ॥

अर्थात् बाह्य पदार्थो का अतिक्रमण करके जिस आत्मा का आत्मा में ही निश्चय होता है वह ' अन्तरात्मा ' है। ऐसा महापुरुषोंने कहा है। ऐसा ' अन्तरात्मा ' समझता है कि, मैं भिन्न वस्तु हू और ये बाह्य पदार्थ मुझसे अलग हैं। आत्मा नित्य है, बाह्य पदार्थ अनित्य हैं। ऐसी भावना में जो आत्मा दृढ है, वही अन्तरात्मा है।

सम्राट भरत के पास अटूट समृद्धि थी— हजारों प्रकार की भोगोपभोग की सामग्री थी, फिर भी उन्होंने कैवल्य ज्ञान को प्राप्त किया,

क्योंकि उनका आत्मा 'अन्तरात्मा' था। संसार के प्रलोभनों से उन्होंने अपने आत्मा को अलग कर लिया था।

"अनित्य संसारे भवति सकलं यन्नयनगम्" अर्थात् नेत्रों से देखे जानेवाले सभी पदार्थ अनित्य हैं, नाशवान हैं, मेरे नहीं हैं मैं अलग हूँ, शुद्ध स्वरूप हूँ, ऐसी आन्तरिक भावना ने ही उनको कैवल्य ज्ञान प्राप्त कराया था। यह कहलाता है अन्तरात्मा।

संसार में रहते हुए भी अन्तरात्मा धाय-माता की तरह अलग रहता है। सब कुछ बाह्य क्रियाएँ करते हुए वह समझता है यह सब मेरा नहीं है।

इस अन्तरात्मा की स्थिति, जब शुद्ध अवस्था में-निर्लेप अवस्था में-आजाती है, तब वह 'परमात्मा' कहलाता है। इसी को 'ईश्वर' के नाम से पुकारा जाता है।

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो
निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा
परमात्मेति वर्णितः।

अर्थात् जो निर्लेप यानी आवरण से रहित है, शुद्ध है, रागद्वेषादि विकारों से परे है, सिद्ध-स्वरूप है, सर्वथा निवृत्त है, अविनाशी है, सुख रूप है, निर्विकल्प है, और जिसमें कोई भेद नहीं, ऐसा शुद्ध स्वरूप आत्मा परमात्मा है। इसे 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' भी कह सकते हैं।

पाठक समझ सकेंगे कि, आत्मा शुद्ध स्वरूप होते हुए भी, अपने ऊपर लगे हुए कर्मों के आवरण से तीन भेदों में विभक्त होजाता है, जिसे हम 'आत्मा' कहते हैं, वही अपनी सर्वथा शुद्ध अवस्था में 'परमात्मा' 'ईश्वर' होजाता है। और इसीलिए कहा जाता है कि-'आत्मा सो परमात्मा'।

आचरण का स्वरूप

- ६ -

आत्मा का शुद्ध स्वरूप होते हुए भी, आवरणों के कारण बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—ये तीन भेद माने जाते हैं। इनका वर्णन पिछले अध्याय में होचुका है, अब इन आवरणों के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

प्राणीमात्र जिन क्रियाओं को करते हैं उनका कुछ न कुछ परिणाम होना ही चाहिये। कई ऐसे जीव हैं जो केवल शारीरिक क्रिया ही करते हैं। कई जीव शारीरिक और वाचिक और कई शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। इन क्रियाओं

के परिणाम स्वरूप आकाशवासी पुद्गलों (परमाणुओं) को जीव ग्रहण करता है, यही आवरण है। आवरण को 'कर्म' भी कहते हैं। इन आवरणों के-कर्म के-अपने अपने स्वभाव हैं और उन स्वभावों के अनुसार जो फल मिलता है वही 'कर्म का फल' कहाजाता है। और यह आत्मा का भोगना पड़ता है। प्रत्येक जीव को सुख-दुःख का अनुभव करना, इसी कर्म का परिणाम है। एक अथवा अनेक इंद्रियों का प्राप्त होना, राजसीवैभव और रंकता, जन्मजात अथवा बाद की शारीरिक, मानसिक, वाचिक, आर्थिक, व्यवहारिक आधि, व्याधि एवं उपाधियों का प्राप्त होना और न होना, आदि सारी विचित्रताएँ इन्हीं कर्मों के कारण से आत्मा के भी भेद माने जाते हैं। एक गति से दूसरी गति में प्रवेश करना यह भी कर्मों का ही कारण है।

यहाँ यह शंका होसकती है कि शुद्ध

यहाँ यदि कोई यह प्रश्न करे कि, इन कर्मों का फल कैसे मिलता है? इसका उत्तर यह है कि कर्म जड़ पदार्थ हैं और आत्मा चैतन्य शक्तिमय है परन्तु जैसे आत्मा की शक्ति अनन्त है-आत्मा अपने स्वभाव को कायम रखता है, उसी प्रकार कर्म जड़ होते हुए भी अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। और वह भी अपने स्वभाव को रखता है। इन्हीं स्वभावों के कारण, स्वाभाविक रीति से, उन कर्मों का फल मिलता है। इसमें किसी की प्रेरणा और प्रयत्न की जरूरत नहीं। लोहचुम्बक लोहे को अपनी तरफ खींचता है। यह उसका स्वभाव है इसमें किसी की प्रेरणा नहीं।

एक और उदाहरण लीजिये। दो तूम्बे हैं। उनका स्वभाव ही पानी पर तैरने का है। इनमें से एक पर कपट मिट्टी करके उसे गोले की आकृति देदीजिये। सहसा देखनेवाला कोई भी मनुष्य, दोनों तूम्बों को देखते ही यही कहेगा

कि, एक तो तुम्बा है दूसरा मिट्टी का गोला है। अब दोनों को पानी में डाल दीजीये। पहिला तुम्बा अपने स्वभावानुसार पानी पर तैरेगा, और कपट मिट्टी के कारण दूसरा डूब जावेगा, क्योंकि उसका स्वभाव बदल गया है। मिट्टी का स्वभाव है डूबने का, इसमें किसी की प्रेरणा की जरूरत नहीं। ठीक इसी प्रकार कर्म से आच्छादित आत्मा भारी होकर इन चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है और सुख दुःख को भोगता है।

अब पुन उस तुम्बे पर आइये। वह पानी में डूबा हुआ तुम्बा पानी के कारण ऊपर की मिट्टी को धीरे धीरे अलग करदेता है और जिस समय सम्पूर्ण मिट्टी सर्वथा दूर होजाती है, उस समय बिना किसी की प्रेरणा के वह ऊपर चला आता है। कर्मों के आवरण से भारी होने

वाला आत्मा, ज्ञान, ध्यान, तपस्यादि अनेक साधनोंद्वारा उन आवरणों को दूर करके स्वत ऊपर उठ आवेगा और बन्धनों से मुक्त होकर सच्चिदानन्दमय ईश्वर बन जावेगा ।

- ६ -

ईश्वर का स्वरूप

अभीतक के विवेचन पर से पाठकों को यह समझ में आगया होगा कि किस प्रकार संसार का कोई भी आत्मा, अपने कर्मों के आवरणों को दूर करके परमात्मा-ईश्वर-बन सकता है। इस पर से यह शंका अवश्य होसकती है कि, संसार तो 'एक ईश्वर' को मानता है और इस हिसाब से तो अनन्त ईश्वरों की स्थापना होजाती है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ये दोनों बातें सत्य ही प्रतीत होंगी। भिन्न भिन्न आत्मा 'परमात्म पद'-'ईश्वरपद'-को प्राप्त, कर सकता है, इस दृष्टि से यदि अनेक ईश्वर कहें, तो यह भी सत्य ही है। परमात्म स्थिति में पहुंचे

हुवे समस्त आत्माओं का स्वरूप एक है–ज्योति में ज्योति मिली हुई है–स्वरूप से इसमें अंश मात्र भी भिन्नता नहीं, इस दृष्टि से 'एक ईश्वर' कहना भी कोई अनुचित नहीं । आमतौर से ईश्वर के स्वरूप में कोई भेद न होने के कारण ही संसार में 'एक ईश्वर' की मान्यता विशेष तथा प्रचलित है ।

ईश्वर को 'अरूप' कहा है । जब ऐसा ही है तो उसका स्वरूप कैसा ? ईश्वर हमारी दृष्टि से अवश्य 'अरूप' है । अरूप होने पर भी ईश्वर जैसी वस्तु अवश्य है और जब वस्तु है तो फिर वह जिस रूप में भी हो, अवश्य ही 'स्वरूपी' है । उसका 'स्वरूप' वह स्वतः ही समझ सकता है । फिर भी भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त भावों, पदार्थों और हम जैसे प्राणियों तथा अगम्य वस्तुओं को जाननेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानियोंने ईश्वर का स्वरूप

अथवा ईश्वर के स्वभाव का जो वर्णन किया है, उस पर से हम इस निष्कर्ष पर पहुच सकते हैं कि, ईश्वर कैसा होगा ?

साधारण रीति से देखा जाय तो, ईश्वर और जगत् का स्वरूप भिन्न भिन्न दार्शनिकोंने भिन्न भिन्न रीति से दिखलाया है। और यह भी सत्य है कि, कोई भी धर्मानुयायी एक ईश्वर की तो उपासना अवश्य ही करता है, फिर चाहे उसके नाम भले ही अलग अलग लिये जाते हों। उदाहरणार्थ, जैसा कि एक कविने ईश्वर की प्रार्थना करते हुए कहा है.—

यं शैवाः समुपासते 'शिव' इति,
'ब्रह्मे'ति वेदान्तिनो।
बुद्धा 'बुद्ध' इति, प्रमाणपटव
'कर्ते'ति नैयायिका ॥
'अर्हन्' इत्यथ जैनशासनरता
कर्मेति मीमांसकाः।

सो ऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं
त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

अर्थात् शैव जिसे 'शिव' कहते हैं, वेदान्ती जिसे 'ब्रह्म' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'बुद्ध' कहते हैं, नैयायिक जिसे 'कर्ता' मानते हैं, और 'अर्हन्' अथवा 'अरिहन्त' कहते हैं और मीमांसक जिसे 'कर्म' के नाम से पुकारते हैं, वैसा तीनों लोकों का प्रभु हमारी इच्छाओं को पूर्ण करे।

इसीप्रकार एक जैनाचार्यने ईश्वर की प्रार्थना करते हुए कहा है:—

यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति
सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा
हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

अर्थात् जिसके समस्त दोष नष्ट होगये हैं और जिस में समस्त गुण ही विद्यमान हैं,

ऐसे ईश्वर को चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु या हरि, हर, जिन इनमें से कोई भी हो, उसे मेरा नमस्कार है।

प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्राचार्य, महा राजा कुमारपाल के साथ 'सोमनाथ' गये और एक जैनाचार्य होते हुए सोमनाथ के मन्दिर में जाकर उन्होंने प्रार्थना करते हुए कहा—

यत्र तत्र समये यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेत् भवान्
एक एव भगवन्! नमोऽस्तु ते।

अर्थात् हे भगवन्! किसी भी समय, किसी भी स्थिति में और किसी भी नाम में आप हों, किन्तु आप समस्त दोषों से रहित हैं, इसलिये हे भगवन्! मेरा आपको नमस्कार है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, ईश्वर को किसी भी नाम से और किसी भी स्वरूप में भिन्न भिन्न दर्शनकार मानते हों, लेकिन मानते

तो अवश्य ही है और यह भी स्पष्ट है कि सभी उसे संसार से विरक्त, राग-द्वेष, शरीर तथा क्रियाओं से रहित मानते हैं।

जैन शास्त्रकारोंने ईश्वर का स्वरूप अथवा लक्षण इस प्रकार बतलाया है:—

सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः।

अर्थात् जो सर्वज्ञ है, रागद्वेष, मोह, मत्सर इत्यादि दुर्गुणों से दूर है, तीनों लोकों के प्राणी जिसको पूजते हैं और जो यथास्थित सत्य सत्य पदार्थों का प्रकाशक है वही देव है, अर्हन् है और परमेश्वर है।

हमारा विचार है कि ईश्वर को मानने वाला हरएक व्यक्ति ईश्वर के इन लक्षणों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं उत्पन्न करेगा।

जैनाचार्योंने ईश्वर का 'महादेव' के नाम से भी पुकारा है, इसलिये कि 'देव' दो प्रकार

के माने गये हैं। एक 'लौकिक' दूसरे लोकोत्तर। जैन दर्शनों में लौकिक देव चार प्रकार के माने गये हैं।

१–भवनपति
२–वाणव्यन्तर
३–ज्योतिष
४–वैमानिक

यहाँ इनका विवेचन अप्रासंगिक है। अर्हन्-ईश्वर-परमात्मा को लोकोत्तर देव कहा है। ईश्वर सब देवों का भी देव है। इसलिये उसे 'महादेव' कहा है। एक आचार्य महादेव की स्तुति करते हुए तथा उनके गुणों-स्वभाव का निरूपण करते हुए कहते हैः—

यस्य संक्लेशजननो रागो नास्त्येव सर्वथा,
न च द्वेषोऽपि सत्वेषु शमेन्धनदवानलः।
न च मोहोऽपि सद्ज्ञानच्छादनोऽशुद्ध-
वृत्तकृत्,

त्रिलोकेरख्यातमहिमा महादेवः स उच्यते।
यो वीतरागः सर्वज्ञो यः शाश्वतसुखेश्वरः।
क्लिष्टकर्मकलातीतः सर्वथा निष्कलस्तथा।
यः पूज्यः सर्वदेवानां यो ध्येयः सर्वयोगिनाम्
यः स्रष्टा सर्वनीतीनां महादेवः स उच्यते।

अर्थात् जिसमें दुःखोत्पादक 'राग' सर्वथा नहीं है, जीवों को शान्तिरूपी लकड़ियों को प्रज्वलित करनेवाला 'दावानल' के समान 'द्वेष' नहीं है, जिसमें शुद्ध ज्ञान को लोप करनेवाला और अशुद्ध प्रवृत्तियों में डालनेवाला 'मोह' भी नहीं है तीनों लोकों में जिसकी महिमा फैली हुई है, उसका नाम है महादेव। जो वीतराग है, जो सर्वज्ञ है, जो शाश्वत सुखों का भोक्ता है, जो समस्त कर्मों से परे है, जो कलाओं चेष्टाओं-से रहित है, समस्त देवताओं का जो पूज्य है, समस्त योगियों का जो ध्येय है और समस्त

नैतिक नियमों का जो स्रष्टा है, उसीका नाम है। महादेव।

ऐसे महादेव को नमस्कार करते हुए कहा है—

एवम्भूताय शान्ताय कृतकृत्याय धीमते,
महादेवाय सतत सम्यक्भक्त्या नमोनमः ॥

अर्थात् इस प्रकार के शान्त, कृतकृत्य और महाज्ञानी महादेव को सम्पूर्ण भक्तिपूर्वक निरन्तर ही मेरा नमस्कार है।

जैनधर्म के सिद्धान्तानुसार उपर्युक्त वक्तव्य को पढने के बाद कोई भी नहीं कह सकता कि, जैन धर्म अनीश्वरवादी है। अर्थात् जैन ईश्वर को नहीं मानते। बल्कि ईश्वर के उपर्युक्त स्वरूप को पढकर ईश्वरवादी अथवा अनीश्वरवादी दोनों को ही यह मानना पड़ेगा कि सचमुच 'ईश्वर' का यही वास्तविक स्वरूप है।

अन्य ईश्वरवादियों की अपेक्षा जैनधर्म ईश्वर की मान्यता में कितनी भिन्नता रखता है, उसका दिग्दर्शन हम आगे करेंगे। यहाँ सिर्फ इतना ही कहेंगे कि, कुछ लोग ईश्वर को राग द्वेष रहित, अजन, अरूप, निष्क्रिय एवं सच्चिदानन्दमय स्वरूप आदि विशेषणों से युक्त मानते हुए भी, ईश्वर को एक ऐसी स्थिति में रख देते हैं, जिसके कारण ईश्वर में उपर्युक्त लक्षण रहते ही नहीं अर्थात् परस्पर विरोधी बातें खड़ी हो जाती हैं। ऐसा क्यों है? इसका स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे, किन्तु इतना तो अवश्य है कि, ईश्वर को माननेवाले जैन और जैनेतर, ईश्वर का जो स्वरूप दिखलाते हैं उसमें कोई भिन्नता नहीं। सभी स्वीकार करते हैं कि ईश्वर समस्त कर्मों से रहित, रागद्वेष से रहित, मोह ममत्व से रहित, क्रियाओं और इच्छाओं से रहित एवं शरीर से भी रहित है।

ईश्वर का अवतार

गीताजी में एक श्लोक है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

इस श्लोक के आधार पर कुछ लोग मान रहे हैं कि, जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का प्रचार होता है, तब ईश्वर, इस मानव लोक में अवतार धारण करके आता है।

यहाँ यह विषय विचारणीय है। ईश्वर के स्वरूप का वर्णन हम पहिले करचुके हैं। ईश्वर कर्मों के आवरण से सर्वथा विमुक्त है, वह अतन है, अरूप है, बन्धनों से रहित है, इच्छाओं और क्रियाओं से रहित है, रागद्वेष से परे है ऐसी

हालत में ईश्वर किसी भी कारणवश अवतार को कैसे धारण कर सकता है ?

इस संसार में जीव परिभ्रमण कर रहे हैं, सुख दुःखों को भोग रहे हैं, इसका कारण क्या है ? इसका कारण आत्मा पर लगे हुए कर्म हैं। यह बात पहिले हम कह चुके हैं। उन कर्मों से जब आत्मा सर्वथा मुक्त होजाता है, तभी वह शुद्ध निरंजन, निराकार, ज्योति स्वरूप अथवा कहिये कि शुद्ध सच्चिदानन्द मय बन जाता है। ऐसे शुद्धात्मा को पुनर्जन्म लेने का कोई कारण नहीं रहता। कहा गया है कि, कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। संसार में परिभ्रमण करने और एक स्थान से दूसरे स्थान में, आत्मा के जाने का कारण है कर्म। और कर्म का ईश्वर में है अभाव। फिर ईश्वर जगत में अवतार ले, यह कैसे माना जा सकता है ? जरा सोचिये—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

अर्थात् बीज के सर्वथा जल जाने पर, अंकुर उत्पन्न नहीं होते ठीक उसी प्रकार कर्म-रूपी बीज के जल जाने पर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होसकता।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। समय समय पर महापुरुष इस जगत में पैदा होते हैं और सांसारिक जीवों को सन्मार्ग दिखलाते हैं, वे कौन हैं? सच बात यह है कि, इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले जीव परमात्मा या ईश्वर नहीं, क्योंकि ईश्वर को तो संसार में आने का कोई कारण ही नहीं। वे महापुरुष भी हमारे जैसे ही संसार की गतियों में परिभ्रमण करनेवाले जीव ही हैं। वे ईश्वर नहीं—परमात्मा नहीं, किन्तु वे परमात्मा से कुछ निम्न श्रेणी के प्रभावशाली जीव हैं, जो संसार में उत्पन्न होकर अपने

कर्मों से जगत के कल्याण के लिये महान पुरु-षार्थयुक्त कार्य करते हैं। इस प्रकार वे जगत के सन्मार्गदर्शक बनते हैं। इसीलिये हम उनको अवतारी पुरुष मानते हैं। यदि स्वतः परमात्मा अवतार धारण करके आवे तो फिर इस संसार के जीवों में और उसमें अन्तर ही क्या रह जावे? संसार में रहनेवाला जीव जैसे सुख और दुःख का अनुभव करता है, उसी तरह ईश्वर यदि सुख और दुःखका अनुभव करनेके लिये संसारमें अवतार ले तो यह सोचना भी कितना अनोखा एवं विचित्र है! जिसे रागद्वेष नहीं, मोह नहीं, अपूर्णता नहीं वह किस प्रकार संसार में अवतरता है।

हम यहाँ पर पाठकों को एक चित्र की याद दिलाते हैं जो "कल्याण" मासिक के "ईश्वरांक" में प्रकाशित हुआ था। उस चित्र में नीचे की ओर संसार की भूमिका दिखाई गई है और उससे ऊपर 'ईश्वर' स्थान की कल्पना

की गई है और यह समझाया गया है कि, उस स्थान पर पहुंचा हुआ आत्मा फिर ससार में नहीं आता। किन्तु उससे कुछ ही नीचे एक और भूमिका चित्रित करते हुए यह बतलाया गया है कि ईश्वर के स्थान के नजदीक ही इस दूसरी भूमिका से जीव, जगत के उद्धार के लिये आते हैं और जगत् को सन्मार्ग दिखाकर उस भूमिका को प्राप्त करलेते हैं जो ईश्वर के लिये प्रतिष्ठित है।

इस पर से यह स्पष्ट है कि स्वत ईश्वर नहीं, किन्तु ईश्वर के करीब पहुंचे हुए अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक शुद्ध आत्मा अपने बाकी के थोड़े से कर्मों का क्षय करने के लिये ससार में आते हैं और लोकोपकार द्वारा इन कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त करते हुए ईश्वर की ज्योति में मिल जाते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य

जन्म को देवताओं मे भी उत्कृष्ट माना गया है। क्योंकि मनुष्यलोक में मुक्ति प्राप्त करने की जो सामग्री है, वह अन्य स्थान में नहीं है। देवता, समृद्धि और भोगविलास में भले ही मनुष्यों से ऊँचे हों, किन्तु भोगविलास के आधिक्य से वे भी तो रागद्वेषी हैं। इसलिये मनुष्यजन्म में आये बिना उनकी मुक्ति कैसे होसकती है? उन देवताओं में से कोई मनुष्यजन्म मे आकर, उत्तम कार्योंद्वारा, महापुरुष बन जाता है और लोग उसको 'महापुरुष' किंवा 'ईश्वर' मान लेता हैं। क्योंकि वे जन्म से न तो 'महापुरुष' होते हैं, न अवतार ही। ससार में आकर जो अद्भुत शक्तियों को प्राप्त करते हैं, जगत पर महान उपकार करते हुए जगत के दुखों को निर्मूल करते हैं, जगत को सन्मार्ग दिखलाते हैं, जगत के लिये स्वय दुखों को उठाते हैं और इस प्रकार अपने कर्तव्यों को पूरा करके

जगत से विदा होजाते हैं, इसलिए उन्हें जगत महापुरुष अथवा अवतार कहता है।

इन बातों से स्पष्ट है कि ईश्वर अवतार धारण नहीं करता।

ईश्वर और जगत्

अभी तक के विवेचन पर से यह स्पष्ट हो गया कि, ईश्वर अवतार को धारण नहीं करते और ईश्वर किसी का भला बुरा भी नहीं करते। तो फिर यह समझ लेना भी आवश्यक होजाता है कि ईश्वर और जगत का क्या सम्बन्ध है? इस विषय पर हम विचार करें, इसके पूर्व "जगत् क्या वस्तु है?" यह समझ लेना भी आवश्यक है। यद्यपि इस विषय में पहिले थोडासा लिखा जा चुका है, तथापि प्रसंगोपात्त यहाँ भी कुछ कह देना अनुपयोगी न होगा।

'जगत्' शब्द इतना प्रचलित है कि, इसके विषय में विशेष विवेचन करने की आव-

श्यकता नहीं है। हम पहिले कह ही चुके हैं कि जगत में जितने भी पदार्थ देखे जाते हैं, वे साधारणतया दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक चेतन दूसरा जड़। चेतन और जड़ की व्याख्या हम पहिले करचुके हैं। इन दोनों पदार्थों के समुच्चय व्यवहार का नाम है जगत्। पृथ्वी, पानी, तेज, वायु, वनस्पति, देव, मनुष्य, तिर्यंच, सूर्य, चन्द्र, तारे, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी पदार्थों का समावेश जगत् में होता है। अब हम ईश्वर और जगत के सम्बन्ध पर विचार करें।

सम्बन्ध हमेशा दो पदार्थों का होता है। और सम्बन्ध कई प्रकार के होते हैं। आधार-आधेयभाव, जन्य-जनकभाव, पूज्य-पूजकभाव आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। आधार-आधेयभाव सम्बन्ध तो ईश्वर और जगत में किसी प्रकार स्थापित हो ही नहीं सकता। ईश्वर

और जगत् का सम्बन्ध सिर्फ पूज्य-पूजकभाव सम्बन्ध होसकता है। जन्य-जनकभाव सम्बन्ध यदि माना जाय, तो जगत् जन्य और ईश्वर जनक हुआ अर्थात् ईश्वरने जगत् को उत्पन्न किया, यह अर्थ होसकता है, किन्तु ऐसा मानने में कई प्रकार के दोष सामने आते हैं।

जगत् की उत्पत्ति के विषय में कई प्रकार के मत संसार में प्रचलित हैं बल्कि परिस्थिति ऐसी होगई है कि, जिसकी बुद्धि में जो आता है वही कल्पना का एक ढांचा खड़ाकर देता है। कुछ उदाहरण देखिये —

कोई कहता है कि मूर्तियाँ तीन भागों में विभक्त हुई हैं। १ हरि, २ शिव और ३ ब्रह्मा। शंभु जगत का बीज है, कृष्ण जगत् के कर्ता हैं और ब्रह्मा क्रिया है। कुछ लोग कहते हैं कि विष्णु से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। कुछ लोग कहते हैं जगत् काल-कृत है, ईश्वर की प्रेरणा से उत्पन्न

हुआ है और कुछ लोग जगत की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानते हैं। कुछ प्रकृति के अनुक्रम से मानते हैं। कुछ दैव से और कुछ स्वभाव से मानते हैं। कोई अक्षर से मानते हैं तो कोई अन्डे से मानते हैं। कुछ पचभूत के विकार से मानते हैं, तो कुछ ऐसे भी हैं जो उसे अनेक-रूप-सम्पन्न मानते हैं। मानवीकल्पना का कोई ठिकाना नहीं। इन समस्त कल्पनाओं का यदि विवेचन किया जाय तो एक बड़ा पुस्तक तैयार होजाय। इसलिये इनमें से एकाद् मत पर ही हम दृष्टिपात करते हैं। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ८ वें श्लोक में कहा है—

साभिध्याय शरीरात्स्वात्
सिसृक्षु विविधा प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ
तासु बीजमवासृजत्।

अर्थात् भिन्न भिन्न प्रकार की प्रजा को

उत्पन्न करने की इच्छा रखनेवाले ईश्वरने अपने शरीर से ध्यान करके पहिले पानी उत्पन्न किया और उनमें बीज डाला।

आश्चर्य की बात तो यह है कि पानी को उत्पन्न कर के रखा कहाँ ? यह तो मनुस्मृतिकारने बताया ही नहीं। बिना आधार के आधेय रह कैसे सकता है ? कहा गया है कि शरीर से ध्यान किया। जब ईश्वर को शरीर ही नहीं, तो फिर शरीर से ध्यान किया कैसे ? आगे चलिये। मनुजी महाराज कहते हैं " जो अग्निरूप बीज डाला था, उसका अन्डा होगया। उस अन्डे से जगत् के पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। फिर ? फिर यह कि भगवान उस अन्डे में एक वर्ष पर्यन्त रहे और फिर उन्होंने स्वयं अपना ध्यान करके उस अण्डे के दो टुकड किये। एक टुकडा ' स्वर्ग ' बना, दूसरा टुकडा ' पृथ्वी ' बना, और जो बीच में रहा उसका नाम ' आकाश ' हुआ।

इस विषय में एक दो बात और विचार-णीय हैं। कहा गया है कि भगवानने पहिले 'पानी' उत्पन्न किया, सो फिर उस पानी के ठहरने के लिये जमीन तो अवश्य ही होना चाहिये, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। पानी में स्थित अण्डा जब फूटा, तब उसका एक अंश 'पृथ्वी' रूप होगया-यह कितनी अस्वाभाविक एवं आश्चर्यजनक बात है ?

एक बात और। ब्रह्माजी एक वर्ष अण्डे में रहे। ब्रह्मा के एक वर्ष का अर्थ भी जान-लेना जरूरी है। हमारे एक करोड और बीस लाख वर्ष के बराबर ब्रह्माजी का एक दिन और उतने ही वर्ष के बराबर ब्रह्माजी की एक रात्रि होती है अर्थात् हमारे दो करोड और चालीस लाख वर्ष के बराबर ब्रह्माजी का एक अहोरात होता है। अब इसे ३६० से गुणा करिये। बस जो गुणन फल प्राप्त हो, वही ब्रह्माजी का एक वर्ष। अर्थात् हमारे आठ अरब, चौंसठ

वर्षों के बराबर ब्रह्माजी का एक वर्ष हुआ। मत
लब यह कि इतने वर्ष ब्रह्मानी अण्डे में रहे।
यह कल्पना हमारी नहीं है, पाठक चाहें तो
मनुस्मृति देखकर इत्मीनान कर सकते हैं।
हम सिर्फ यही बतलाना चाहते हैं कि, उपर्युक्त
कल्पनाओं में जगत की उत्पत्ति का कोई भी
बुद्धिजन्य भाव उत्पन्न नहीं होसकता। इस प्रकार
भला जगत की उत्पत्ति सम्भाव्य होसकती है ?
जब ईश्वरने अपने शरीर से जगत को उत्पन्न
करने की इच्छा की तो फिर पहिले पानी उत्पन्न
करना और फिर उसमें अण्डा स्थापित करके
आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष तक उसमें रहना
कतई अस्वाभाविक व्यर्थ कपोलकल्पित प्रतीत
होता है। जैसे पानी उत्पन्न किया, वैसे ही अन्य
पदार्थों को भी बना डालते। यह सारी कल्पनाएँ
बुद्धि की कसौटी पर कसने योग्य ही हैं, पर
इतना समय और स्थान कहाँ ?

एक और अनोखी बात देखिये। मनु

स्मृति के प्रथम अध्याय में एक तरफ तो जगत की उत्पत्ति के विषय में उपर्युक्त कल्पना की गई, साथ ही पहिले अध्याय के ३२ वें श्लोक में यह भी कह दिया —

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभु ।

अर्थात् उन्होंने अपने शरीर के दो टुकड़े किये । आधे शरीर से पुरुष और आधे से स्त्री उत्पन्न की । उस स्त्रीने मैथुन की सृष्टा की । ब्रह्माजीने मैथुनद्वारा विराट् पुरुष पैदा किया । विज्ञान के जमाने में ऐसी उत्पत्ति कोई स्वीकार कर सकता है ? शास्त्र, युक्ति और अनुभव-इन तीनों से जो बात सिद्ध होती हो, वही बात प्रामाणिक और स्वीकार करने योग्य होनी चाहिये । शास्त्रों में वर्णित होते हुए भी अगर वह तर्क और अनुभव से सिद्ध नहीं होती तो वह स्वीकार करने योग्य नहीं मानी जासकती ।

- ९ -

जगत् से ईश्वर की निर्लिप्तता

भिन्न भिन्न मतवादियोंने जगत और ईश्वर का सम्बन्ध दिखलाते हुए जगत् की उत्पत्ति ईश्वर से भले ही मानी हो, परन्तु वास्तव में वह ठीक नहीं है। अर्थात् जगत् को ईश्वरने बनाया और जगत् की प्रत्येक क्रिया में ईश्वर का हस्तक्षेप है, ये बातें ईश्वर के स्वरूप के साथ बिलकुल सम्बन्ध नहीं रखतीं। यह निश्चय है कि ईश्वर में कर्तृत्व को माननेवाले यह कहेंगे कि संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो बिना बनाये ही बनगई हो। छोटी से छोटी वस्तु भी बिना बनाये नहीं बन सकती-कोई न कोई तो उसका उत्पादक होता [redacted] है।

निस्सन्देह, इस बात को मानते हुए, हमें यह विचार करना आवश्यक है कि, जिन वस्तुओं की उत्पत्ति किसीके द्वारा होना हम स्वीकार करते हैं, उन वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाला अशरीर है या सशरीर ? । ऐसी कोई भी वस्तु नहीं देखी जाती, जो बिना शरीर, बिना इच्छा, और बिना साधन के उत्पन्न होगई हो । ईश्वरने जगत को बनाया, ऐसा माननेवाले भी मुक्त हृदय से इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर अशरीरी है । अशरीरी पदार्थ किसी वस्तु का निर्माण कैसे कर सकता है ? अर्थात् अरूप ईश्वर ऐसे विराट जगत की उत्पत्ति कैसे कर सकता है ? दूसरे, बिना साधन के साध्य सिद्ध नहीं होता । कुम्हार को साधारण सा घड़ा बनाने के लिये भी मिट्टी, पानी, चाक और दण्ड आदि सामग्री की आवश्यकता होती है । फिर भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएं और भिन्न भिन्न स्वभाव मय इस जगत् को बनाने के लिये, ईश्वर को

क्या किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी ? सच बात तो यह है कि जब ईश्वर को शरीर ही नहीं है तब अन्य साधनों का प्रश्न उठाना ही बेसूद है।

एक और बात। कोई भी प्रवृत्ति बिना इच्छा के नहीं होती। छोटे से छोटा ही कार्य क्यों न हो, किन्तु बिना इच्छा उस में प्रवृत्ति कभी नहीं होती। पहिले इच्छा-मानसिक विचार और बाद में क्रिया। ईश्वरने जब जगत को बनाया, तो पहिले बनाने की इच्छा का होना आवश्यक हुआ। और इच्छा, यह तो रागद्वेष का परिणाम है। मानसिक भावना का नाम है इच्छा। जब ईश्वर को राग द्वेष नहीं–मानसिक भावना नहीं–तो फिर उसकी प्रवृत्ति कैसी ? ईश्वर में यदि इच्छा मानी जाय, तो वह रागद्वेषी हुआ। और रागद्वेष ईश्वर में है नहीं, यह तो प्रसिद्ध ही है। यदि उसमें रागद्वेष है, तो ससार के जीवों में और उसमें

क्या अन्तर है ? ईश्वर में राग, द्वेष, प्रेम, क्रोध आदि नहीं हैं इसीलिये वह ईश्वर है । ऐसी हालत में परमात्मा जगत को निर्माण करता है, यह कैसे मानलिया जाय ?

एक प्रश्न यह भी है कि, ईश्वर ने इस जगत को बनाया, तो कब बनाया ? और यदि नहीं बनाया तो इस जगत के स्थान में और क्या चीज थी ? पृथ्वी, पानी, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, वनस्पति, सुख, दुःख आदि कुछ भी नहीं था, तब फिर वह अकेला ईश्वर कैसा था ? क्योंकि यह बात तो अनेक बार कही जा चुकी है कि, शब्द मात्र सापेक्ष हैं। जब जगत नहीं, तो ईश्वर का व्यवहार नहीं होसकता । जब कोई वस्तु ही नहीं थी, तो ईश्वर किसका ? जब माल ही नहीं तो मालिक कैसा ? पूजक नहीं तो पूज्य किस का ? पुत्र नहीं तो पिता किसका ? इसी प्रकार जब जगत नहीं

तो ईश्वर किसका ? शास्त्रकारों का कथन है –

"प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" अर्थात् प्रयोजन के बिना कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती। ईश्वर को क्या प्रयोजन था जो उसने इस जगत को बनाया ? मनुष्य व्यापार करता है पैसे कमाने के प्रयोजन से। ससार की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हो रही हैं, वे सब प्रयोजन से ही हो रही हैं। छोटे बच्चे बरसाद के दिनों में गीली मिट्टी के मकान बनाते हैं। लोग कहेंगे कि, ये बिना प्रयोजन ही बनाते हैं; परन्तु ऐसा नहीं है। आनन्द, प्रमोद यही इसका प्रयोजन हैं। ईश्वर ने किस प्रयोजन से जगत को बनाया ? क्रीडा मात्र के लिये बनाया, ऐसा कहना भी अनुचित हैं। क्योंकि ईश्वर जैसी महान शक्ति भी क्रीडा करे, यह कहना उसके साथ अन्याय करना है।

एक और बात। ससार का कोइ भी पदार्थ

स्वभाव से विरुद्ध निर्माण नहीं होता। पत्थर में कभी घास नहीं उगेगा। जौ को बो कर कभी गेहु उत्पन्न नहीं किये जासकते। ईश्वर के स्वरूप में और जगत के स्वरूप में बहुत अन्तर है। इसलिये भी ईश्वर से जगत की उत्पत्ति मानना निरर्थक है।

इन सारी बातों का विचार करते हुए यह स्पष्ट है कि जगत की उत्पत्ति में ईश्वर का कोई भाग नहीं। क्योंकि जिसको रागद्वेष नहीं, जिसको इच्छा नहीं, प्रयोजन नहीं, बाल चेष्टा नहीं, क्रीडा नहीं, विनोद नहीं, शरीर नहीं, ऐसा ईश्वर जगत को उत्पन्न करे, यह बिलकुल मानने योग्य बात नहीं। इसीलिये जगत और ईश्वर का सम्बन्ध जन्य-जनक सम्बन्ध भी नहीं।

जबकि-ईश्वर, ससार के प्रत्येक पदार्थ, बलिक ससार की प्रत्येक घटना से निर्लिप्त है तो फिर प्रत्येक घटना में ईश्वर का नाम क्यों

लिया जाता है ? जब ईश्वर किसी भी कार्य में दखल नहीं देता, सुख दुख नहीं देता, किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं करता तो फिर आबालवृद्ध सभी लोग हरएक कार्य में ईश्वर का नाम क्यों लेते हैं ? लडका मर गया तो कहा जाता है– ईश्वर की मरजी। सुख दुख हुआ तो ईश्वर की मरजी। नफा नुकसान हुआ तो ईश्वर की मरजी। यह क्यों ? इसका उत्तर सीधा और सहज ही है। केवल ईश्वर के प्रति विनय दिखलानेवाली यह भाषा है। ईश्वर हमारे पूज्य हैं, सर्वशक्तिमान हैं, हमारे पिता हैं, इसलिये अपनी लघुता दिखलाने के लिये ही प्रत्येक कार्य में हम ईश्वर का नाम लेते हैं। किसी गृहस्थ के पास एक साधु आता है, वह ब्रह्मचारी है, महात्मा है। उसीके आंगन में एक लडका खेल रहा है।। साधु गृहस्थ से पूछता है–" यह लडका किसका है ? " गृहस्थ जवाब देता है–" महाराज, आपका ही है। " क्या यह बात सत्य है ? क्या ब्रह्मचारी साधु

लड़के का पिता होसकता है ? नहीं। यह एक लघुता है। पट के प्रति नम्रता दिखलाना उस गृहस्थ का धर्म है। "मेरा लड़का" कहना उसके लिये अभिमान होता, इसलिये ऐसी मुहावरे की भाषा या यों कहिये लघुता-नम्रता की भाषा दुनिया में प्रचलित है। ईश्वर का नाम लेने में भी यही विनय, नम्रता या मुहावरा जो कुछ कह लीजिये काम कर रहा है। इस में वास्तविकता कुछ भी नहीं।

जब यह निश्चय होचुका कि, संसार की उत्पत्ति ईश्वर करता नहीं, संसार की किसी भी घटना में ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं, सुख दुख की क्रिया में ईश्वर का भाग नहीं तो फिर संसार में जो कुछ हो रहा है, जो घटनाएं बनती हैं, उस का कारण है ? पदार्थों का स्वभाव।

- १० -

पदार्थों का स्वभाव

जगत क्या चीज है ? यह पहिले दिख लाया जा चुका है। अनन्त पदार्थों के समूह का नाम है जगत। यह जगत अनादि सिद्ध है। जिस तरह ईश्वर अनादि सिद्ध है, और है भी, उसी प्रकार यह जगत भी अनादि काल से ही है। किसी समय ईश्वर नहीं था, ऐसा नहीं, और किसी समय जगत नहीं था, ऐसा भी नहीं कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों अनादि काल से है। इस जगत के प्रत्येक पदार्थ का स्वभा उत्पत्ति, स्थिति और विनाश धर्मी है। ए साधारण दीपक से लगाकर आकाश पर्यन्त सभी पदार्थों में नित्यत्व और अनित्यत्व दोन

ही है। द्रव्य की अपेक्षा से यह जगत नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। जगत ही क्यों? जगत का प्रत्येक पदार्थ नित्य और अनित्य धर्मी है। कोई भी पदार्थ न तो एकान्त नित्य ही है और न एकान्त अनित्य ही।

अब हम इस बात का विचार करेंगे कि यह नित्य और अनित्य क्या है? शास्त्रकारों ने 'नित्य' का लक्षण इस प्रकार किया है—

"अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपम् नित्यत्वम्" अर्थात् जो कभी नाश नहीं होता, उत्पन्न नहीं होता और स्थिर—एक ही रूप—है, उसका नाम है नित्य। इस से विपरीत, जिसका नाश होता है, उसका नाम है 'अनित्य'। जैन शास्त्रकारों ने 'नित्य' का लक्षण यों दिखलाया है—"तद् भावाव्ययं नित्यम्" अर्थात् जो अपने भाव से नाश नहीं होता, उसका नाम है नित्य। अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसी हालत में रहे, उसका

नाम है नित्य। संसार में जो पदार्थ हैं वे अपेक्षा से नित्य और अनित्य दोनों धर्मवाले हैं। उदाहरण लीजिये। यह आत्मा इस शरीर को छोड़कर जाता है तब इस शरीर रूपी पर्याय का नाश होजाता है। यह जिस शरीर में प्रवेश करता है उस शरीर की उत्पत्ति हुई, किन्तु जो आगे आत्म द्रव्य था, वह तो ज्यों का त्यों कायम है। कहने का तात्पर्य यह है कि-इस शरीर के परिवर्तन की अपेक्षा से आत्मा को नित्य और अनित्य माना गया है। सुवर्ण के हार को गला कर चूड़िया बनाई, परिणामतः हार का नाश हुआ, और चूड़ियों की उत्पत्ति हुई, किन्तु सुवर्ण द्रव्य फिर भी कायम रहा। इन आकारों की अपेक्षा से इसको नित्य और अनित्य दोनों कह सकते हैं। इस प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म विद्यमान हैं। इसी लिये जैन शास्त्रकारों ने पदार्थों का लक्षण "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्" माना है।

मनुष्य का शरीर जल कर राख हो जाता है। हम कहते हैं उसका नाश हुआ। बेशक, जिस शरीर को हम देख रहे थे, उसका नाश हुआ और उसके परमाणु राख के रूप में परिवर्तित हो गये। परिणामतः शरीर का नाश होकर राख की उत्पत्ति हुई और उसके परमाणु कायम रहे।

अब यह निश्चय हो गया कि-जगत का प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। और उसका मूल द्रव्य कायम रहता है। जो परमाणु स्वरूप है। जगत का कोई भी पदार्थ सर्वथा पहिले नहीं था और बाद में उत्पन्न हुआ ऐसा नहीं कहा जावेगा। हाँ, रूपान्तर अवश्य होता है, किन्तु मूल वस्तु तो अवश्य ही कायम रहती है।

पदार्थों के स्वभाव के अनुसार सब कुछ बनता ही रहता है। सूर्य को पूर्व से पश्चिम में खींचनेवाला क्या कोइ व्यक्ति है? मोरके परों के ऊपर क्या किसी चित्रकार ने चित्रण किया

है ? दिन के बाद रात और रात के बाद दिन
बनानेवाला क्या कोई व्यक्ति है ? ऋतुओं क
परिवर्तन क्या कोई व्यक्ति करता है ? गर्भ मे
आया हुआ जीव धीरे धीरे बढता है, कलेव
बनता जाता है, क्या उसका शरीर कोई व्यक्ति
मिट्टी लगा कर बढ़ाता जाता है ? नहीं, यह स
स्वभाव वश ही होता रहता है। वस्तु मात्र अपने
अपने स्वभावानुसार क्रिया करती रहती है। इसके
लिये न तो ईश्वर की जरूरत है, न किसी अन
वस्तु की। गीता के पाचवे अध्याय में स्पष्ट ह
कहा है:-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं प्रभुः
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः

अर्थात् परमात्मा जगत को बनाता नहीं
लोगों के कर्मों को उत्पन्न करता नहीं, कर्मों

फल का संयोग करता नहीं, किन्तु यह सब स्वभाव से ही होरहा है। किसी के पुण्य पाप के उत्तरदायी नहीं। अज्ञान से ज्ञान आवृत्त होने के कारण संसार के जीव भ्रममें पड़ जाते हैं अर्थात् संसार के समस्त पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है, जिसके कारण सब क्रियाएँ स्वयं ही होती रहती हैं। अग्नि का स्वभाव है उष्णता, पानी का स्वभाव है शीतलता, वायु का स्वभाव है गतिशीलता, इसी प्रकार सभी पदार्थों में अपने अपने स्वभाव विद्यमान हैं। सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावों के अनुसार क्रियाएँ करते रहते हैं। इसी लिये कहा गया है–"वत्थु सहावो धम्मो" अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है।

- ११ -

कर्म का प्राधान्य

संसार के पदार्थ अपने अपने स्वभावों के अनुसार भले ही गतिशील हों, परन्तु हम जगत में जो कुछ विचित्रता देखी जाती है, उसका उत्तरदायित्व किस पर है ? संसार में सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, सज्जनता, दुर्जनता, वैभव, दारिद्र्य, रोग एवं शोक आदि नाना प्रकार की विचित्रताएं दिखाई दे रही हैं। यह सारी विचित्रताएं कैसे हो रही हैं ? किसी को तो एक दर्जन सन्तान और किसी को एक भी नहीं। एक मनुष्य मेहनत करके मर मिटता है, फिर भी कुछ प्राप्त नहीं कर पाता, दूसरा बिना परिश्रम मौज उड़ाता है। एक मनुष्य शरीर के

बहुत कुछ सभालते हुए भी हमेशा बीमार ही बना रहता है, दूसरा शरीर की ओर से कतई लापरवाह होते हुए भी खूब हृष्टपुष्ट रहता है। किसी को हजारों कोशिशों के बाद पुत्रप्राप्ति होती है, लेकिन होते ही मर जाता है। यह सारी विचित्रताएं कैसे होरही हैं ? क्या इसमें भी ईश्वर का हाथ है ? नहीं। क्या ईश्वर संसार को इस प्रकार नचा सकता है ? अगर यह सब ईश्वर ही करता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि, यदि किसीने किसी का खून किया तो वह भी ईश्वरने ही करवाया। आश्चर्य है कि ईश्वर खून करवाता भी है और उसी खूनी को फांसी पर भी चढवा देता है। यह सब क्या है ? इसलिये यह बात निश्चित है कि संसार की किसी भी प्रवृत्ति में ईश्वर का हस्तक्षेप नहीं। इन प्रवृत्तियों का मूल कारण जीव के किये हुए शुभाशुभ 'कर्म' ही हैं। जो जैसे कर्म करता है, उसीके अनुसार सुख अथवा दुःख पाता है।

जीव मन, वचन और काया से जो कुछ प्रवृत्ति करता है उसके परिणामस्वरूप शुभ और अशुभ कर्मों का उपार्जन करता है। इस अनन्त आकाश में अनन्त परमाणु भर पड़े हैं। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के कारण ही, जीव, आकाश में से ऐसे परिमाणुओं को ग्रहण करता है जिनको 'कर्म' कहते हैं। वे शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जहाँ क्रिया है, वहाँ कर्म है। क्रिया का फल 'कर्म' है। कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। जिस प्रकार के कर्म होते हैं और जब उनका परिपाक होता है, उसी प्रकार से उपयुक्त समयों में, उन कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

कर्म भी स्वभाव गुणयुक्त होते हैं। स्वभावानुसार ही जीव को फलप्राप्ति होती है। कर्मों के फल देने के लिये किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कर्मों का स्वभाव ही

ऐसा है कि स्वयं फलोत्पत्ति होती रहती है। " आवरणों का स्वरूप " में कहा जाचुका है कि तुम्बे का स्वभाव पानी में तैरने का होता है। यदि उस पर मिट्टी का लेप किया जाय तो वही तुम्बा पानी में डूब जाता है। लोहचुम्बक को प्रेरणा करने की जरूरत नहीं है कि, वह लोह को अपनी ओर खींचे, परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह लोहे को अपने आप अपनी तरफ खींचेगा। बस यही कर्मों का स्वभाव [illegible]।

कर्मों का प्राधान्य कितना जबरदस्त है यह बात संसार के अनेक अनुभवों से प्रतीत होती रहती है। रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष को वशिष्ठ ऋषि जैसे उनके गुरुने राजतिलक का मुहूर्त दिया, किन्तु उसी मुहूर्त में उसको बनवास जाना पडा। इसिलिये तो शास्त्रकारोंने कहा है।—

कर्मणो हि प्रधानत्व
किं कुर्वन्ति शुभाग्रहाः ।

यदिष्टदत्तलग्नोऽपि
राम प्रव्रजितो वने ।

अर्थात् रामचन्द्रजी जैसे पुरुषोत्तम, बल्कि यों कहना चाहिये कि, हिंदुओं की मान्यतानुसार एक अवतारी पुरुष के ऊपर ईश्वर का इतना प्रकोप होसकता है ? परन्तु ऐसा नहीं है। उपर्युक्त श्लोक में ही कह दिया गया है कि विश्व में कर्म का ही प्राधान्य है। कर्म को बदलने के लिये कितने ही उत्तम ग्रह क्यों न हों, पर वे क्या कर सकते हैं ? स्वयं रामचन्द्रजी उस समय विचार करते हैं—

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति,
यच्चेतसा न गणितं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती।
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी।

अर्थात् जिस का मैंने स्वप्न में भी विचार नहिं किया था, वही मेरे सामने उपस्थित है।

और जिस रा में विचार कर रहा था, वह मुझसे दूर होगया। सुबह होते ही मैं चक्रवर्ती राजा बनूंगा, यह बात तो दूर रही, एक जटाधारी तपस्वी होकर आज मुझे वनवास जाना पड रहा है। यह सब कर्मों की ही लीला है।

सद्बुद्धि को दुर्बुद्धि में परिणत करने वाले भी कर्म ही हैं। इसी लिये कहा गया है– " बुद्धि कर्मानुसारिणी " क्या रामचन्द्रजी नहीं समझते थे कि संसार में सुवर्ण का मृग भी कहीं होता है? क्या पाण्डव नहीं जानते थे कि जुआ खेलना महापाप है? किन्तु जानते हुए भी कुबुद्धि का ही उन्हों ने अनुसरण किया। यह सब कर्म का ही परिणाम है। कर्म का प्राधान्य प्रदर्शित करनेवाले अनेक वाक्य हिन्दु और जैन शास्त्रों में मिलते हैं —

" तस्मै नमः कर्मणे "

" भाग्यम् सर्वत्र कारणम् "

" कर्मायत्तम् फलं पुंसाम् "

" न चलतीय भाविनी कर्मरेखा "

" कर्मैव शुद्धमतयो गृणन्ति "

" फलति कपाल', न भूपाल । "

" कर्मणो हि प्रधानत्वम् "



- १२ -

पाँच कारण

संसार की प्रत्येक क्रिया में-सुख दुःख में कर्म का प्राधान्य है, यह बात हम देख चुके हैं, परन्तु उसके साथ ही साथ अन्य भी कारण हैं, यह बात भूलना नहीं चाहिये। जैन शास्त्रों में किसी भी कार्य की उत्पत्ति में ५ कारण माने गये हैं। १-काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ पुरुषार्थ और ५ कर्म। इन पांचों कारणों का समन्वय होने से ही किसी भी कार्य की उत्पत्ति होती है। जो लोग यह कहते हैं कि, जैनी 'कर्मवादी' हैं और कर्मवादी होने के कारण ही वे पुरुषार्थहीन होगये हैं, ठीक नहीं

है। कर्म के साथ पुरुषार्थ का भी प्राधान्य है। इनमें खास करके पुरुषार्थ और कर्म ये दो ऐसे कारण हैं कि, उनका कार्य-कारण भाव सम्बन्ध बराबर रहता ही है। जैसे अण्डे के बिना मुर्गी नहीं और मुर्गी के बिना अण्डा नहीं। वैसे ही ही पुरुषार्थ के बिना कर्म नहीं, और कर्म के बिना पुरुषार्थ नहीं। पुरुषार्थ से कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म के अनुसार पुरुषार्थ होता है। कोई भी कार्य तभी सम्पन्न होगा, जब उसका समय आवेगा। पुरुषार्थ कितना भी किया जाय, साथ ही कर्म भी किया जाय, परन्तु बिना 'समय' आये यह कार्य होही नहीं सकता। रोग मिटनेवाला अवश्य है, और दवा भी जारी है, लेकिन रोग उसी समय मिटेगा जब उसका वक्त आवेगा। भाग्य में अवश्य है कि सन्तान हो, और उसके निमित्त पुरुषार्थ भी किया, किन्तु समय आने पर ही सन्तानोत्पत्ति होगी। इसी प्रकार कार्य की

उत्पत्ति में स्वभाव भी कारण है। चाहे जितनी लकड़ी जला डालिये, पर घर्ड्ड (कद्रा) मूग कभी गलेगा ही नहीं, क्योंकि उसका स्वभाव गलने का नहीं है। इसी प्रकार 'नियति' भी कारण है, जिसको भवितव्यता कहा जाता है। मनुष्य चाहता है कि मुझे पुत्र हो, किन्तु भवितव्यता नहीं है, तो पुत्रोत्पत्ति असम्भव है। और यदि पुत्र जन्मा भी तो वह मरा हुआ होगा। यह भवितव्यता का परिणाम है। पुरुषार्थ तो प्रसिद्ध ही है। बिना पुरुषार्थ के संसार का कौनसा कार्य सिद्ध हो सकता है? स्त्री का स्वभाव है सन्तानोत्पत्ति करना। समय भी है, कर्म भी है कि उसे सन्तान हो, किन्तु यदि पुरुष संयोग न हो तो होही कैसे सकेगा? भाग्य की प्रधानता तो हम पहिले ही दिखा चुके हैं। कर्म के खेल संसार में प्रतिक्षण स्थान स्थान में देखे आते हैं। सुख के लिये प्रयत्न करते हुए भी सुख नहीं मिलता, बल्कि दुःख ही मिलता है।

पूज्य की पूजा

हम पहिले दिखला चुके हैं कि ईश्वर और जगत का सम्बन्ध जन्य-जनक भाव सम्बन्ध नहीं है, न मित्रता का ही सम्बन्ध है। यदि ईश्वर और जगत का सम्बन्ध है तो 'पूज्य-पूजक'-भाव सम्बन्ध है। ईश्वर पूज्य क्यों है? यह आरम्भ में हम दिखला चुके हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि ईश्वर क्या है? और उसका स्वरूप क्या है? हमारे आत्मा की अपेक्षा जो ज्यादा से ज्यादा शुद्धात्मा हो, वही हमारे लिये पूज्य है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि, जो बड़े होते हैं वे पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं। ईश्वर हम

लाभ की आशा से दौडधूप करते हुए भी लाभ प्राप्त करना तो दूर रहा, उल्टी हानि हो जाती है। इससे सिद्ध है कि, ये सारी बातें 'कर्म' पर ही आश्रित हैं।

उपर्युक्त पाचों कारणों के मिलने पर ही किसी कार्य की उत्पत्ति होती है। इसमें ईश्वर की प्रेरणा या उसके दखल की कोई जरूरत नहीं। अपने अपने स्वभावानुसार सब होता रहता है।



पूज्य की पूजा

हम पहिले दिखला चुके हैं कि ईश्वर और जगत का सम्बन्ध जन्य-जनक भाव सम्बन्ध नहीं है, न मित्रता का ही सम्बन्ध है। यदि ईश्वर और जगत का सम्बन्ध है तो 'पूज्य-पूजक'-भाव सम्बन्ध है। ईश्वर पूज्य क्यों है? यह आरम्भ में हम दिखला चुके हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ईश्वर क्या है? और उसका स्वरूप क्या है? हमारे आत्मा की अपेक्षा जो ज्यादा से ज्यादा शुद्धात्मा हो, वही हमारे लिये पूज्य है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि, जो बडे होते हैं वे पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं। ईश्वर हम

से अधिक शुद्ध हैं, अधिक ही नहीं, वह तो परम शुद्ध है। सम्पूर्ण है, हम अपूर्ण हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, हम अल्प शक्ति हैं। ईश्वर सर्वज्ञ है, हम अल्पज्ञ हैं, इसीलिये ईश्वर हमारे लिये पूज्य है।

ईश्वर हमको इस लिये भी पूज्य है कि, वह हमसे अनन्त गुना गुणवान है। उसमें एक भी दोष नहीं, इस लिये वह हमारा आदर्श भी है। साधुओं को पूज्य क्यों मानते हैं? वे कुछ लेते-देते तो नहीं, किन्तु गृहस्थों से वे अधिक गुण-सम्पन्न हैं-पवित्र हैं। इस लिये पूज्य हैं। जैसे साधु कुछ लेते-देते नहीं, वैसे ही ईश्वर कुछ लेते देते नहीं, फिर भी जैसे साधु पूज्य हैं, वैसे ही ईश्वर भी पूज्य है।

जो पूज्य होता है, उसकी पूजा करना आवश्यक है। पूज्य, पूजक और पूजा-इन तीनों में परस्पर सम्बन्ध है। जब ये तीनों एकत्रित होजाते हैं, तब ही पूज्य पूजक का सम्बन्ध

सार्थक होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि, जब ईश्वर कुछ लेते देते ही नहीं, किसी के हानि लाभ में सम्मिलित होते ही नहीं तो फिर उनकी पूजा क्यों करनी चाहिये ? इसका जवाब तो सीधा ही है।

पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे जीवन का ध्येय क्या है ? हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं ? इसका उत्तर एक ही है और वह है–परम सुख। हम इस चौरासी लाख योनियों के चक्कर से छूटना चाहते हैं। हम जन्म, जरा के दुख से मुक्त होना चाहते हैं। अन्य प्रकार से यों कहना चाहिये कि हम ईश्वर होना चाहते हैं–हमारे आत्मा को ईश्वर की ज्योति में मिलाना चाहते हैं। अगर ऐसा ही है तो हमको ईश्वर की पूजा, भक्ति और उपासना करना जरूरी है। क्यों कि यह स्वाभाविक नियम है कि जिससे जिसकी आवश्यकता होती है वह उसीके पास जाता है, जिसके पास

वस्तु होती है। नौकरी की इच्छा रखनेवाला किसी सेठ या आफिसर के पास जावेगा। साधु बनने की इच्छा रखनेवाला साधु सन्त के पास जावेगा। विद्याभिलाषी विद्वान के पास जावेगा, विषयी वेश्या के पास जावेगा। हमें वीतराग होना है-शुद्ध होना है-ईश्वर होना है। इसलिये हमको उन्हीं की भक्ति-सेवा करनी चाहिये, जो वीतराग हैं-परम शुद्ध हैं-ईश्वर हैं।



फल-प्राप्ति का आधार

हमने पहिले ही बता दिया है कि ईश्वर कुछ लेते देते नहीं। जब यह स्थिति है तो फिर ईश्वर की उपासना-भक्ति करने मे फल प्राप्त कैसे होगा ? क्योंकि वह तो कुछ देंगे नहीं। परन्तु हम यहाँ यह भूल जाते हैं कि, किसी भी क्रिया के फल का आधार हमारे अन्त करण की भावना पर निर्भर है। देखिये, एक मनुष्य वेश्या के घर जाता है, हम कहते है वह नरक में जायगा। क्या वेश्या उसे नरक में भेजती है ? नहीं, वेश्या को तो नरक का ज्ञान भी नहीं, किन्तु मनुष्य का उसके वहाँ जाने से अन्त.करण मलिन होता है, यही दु:ख और दुर्गति का कारण

है। फिर किसी गरीब को दान किया, हम कहेंगे कि, दानी स्वर्ग में जावेगा-सुखी होगा। तो क्या दानी को स्वर्गमें वह गरीब भेज देगा? कभी नहीं। दान देने के समय उस दाता के दिल में जो दया, हमदर्दी उत्पन्न होती है, उसी से उसको पुण्य होता है। उस पुण्य का-शुभ कर्मों का वह उपार्जन करता है, परिणामतः उसका हृदय पवित्र होजाता है और वह स्वर्ग में जाता है और सुखी होता है।

सुख दुःख के प्राप्त करने का साधन केवल हृदय की पवित्रता और अपवित्रता पर निर्भर है। इसलिये कहा गया है "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो" अर्थात् हरएक कार्यमें मन के जैसे परिणाम होते हैं, वैसे ही कर्मों का बन्धन और मुक्ति होती है। ईश्वर तो इन बातों से अलग है, रागद्वेष से रहित है, किन्तु जिस क्रिया में जैसा हमारा हृदय होगा-भावना होगी-शुद्धता होगी उसी प्रकार से फल की प्राप्ति होगी। मन वचन,

और काया की प्रवृत्तियों से शुभाशुभ कर्म उपार्जन होते हैं। शुभाशुभ कर्म अपने अपने स्वभावानुसार सुख दुख प्रदान करते हैं।

इस पर से यह सिद्ध हुआ कि वीतराग दशा को प्राप्त करने के लिये हृदय की शुद्धता जरूरी है। और हृदय की शुद्धि क लिये ईश्वर की उपासना-भक्ति आवश्यक है। ईश्वर हमें कुछ दे चाहे न दे, हम हमारी अन्तःकरण की शुद्धि क अनुसार फल जरूर प्राप्त करेंगे। इसीलिये ईश्वर की भक्ति परमावश्यक है।

स्मरण-भक्ति

ईश्वर-भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये, इसका भी विचार करना आवश्यक है।

ईश्वर अरूपी है, अदृश्य है। ऐसे ईश्वर की भक्ति या उपासना कैसे की जाय? ईश्वर की भक्ति हमारे विचार में तीन प्रकार से हो सकती है। १ स्मरण, २ दर्शन और ३ स्तुति से। इन तीनों भेदों में से किसी एक, दो या तीनों प्रकार से भक्ति की जा सकती है। भक्ति का अर्थ है बहुमान, आदर, सत्कार इत्यादि।

हमारी पूज्य वस्तु के प्रति किसी भी प्रकार का आदर या सम्मान दिखलाने का नाम है भक्ति। फिर चाहे वह स्मरण या दर्शन या

स्पर्शन द्वारा ही क्यों न हो। पहिले स्मरण भक्ति को ही लीजिये।

किसी भी पूज्य पुरुष का शुद्ध भाव से स्मरण करना, यह उसका बहुमान है–भक्ति है। भूतकाल में जितने भी महापुरुष हो गये हैं, सतियाँ होगई हैं, इन सबका हम स्मरण करते हैं, प्रात: काल उठकर उनका नाम लेते हैं, यही हमारी उनके प्रति भक्ति है। स्मरण करने से हमारा भक्तिभाव उनके प्रति बढता है, हमें उनके गुण याद आते हैं, हमें उनके जैसे होने की प्रेरणा मिलती है। शास्त्रकारोंने ईश्वर का स्मरण करने के लिये चार प्रकार दिखलाये है.–

रूपस्थं च पदस्थ च पिंडस्थ रूपवर्जितम्।
ध्यान चतुर्विध प्रोक्त ससारार्णवतारकम्॥

अर्थात् रूपस्थ, पदस्थ, पिंडस्थ और रूपातीत। इन चारों प्रकारों का ध्यान ससार-रूपी समुद्र से पार उतार देता है। योगी ईश्वर का ध्यान करने के पहिले रूप को देखते हैं,

बाद में नाम से परमात्मा का स्मरण करते हैं। तत्पश्चात् पिण्ड में ध्यान करते हुए परमात्म रूप बन जाते हैं और अन्त में रूपातीत होजाते हैं। हम जैसे अल्पशक्ति मानवों के लिये सब से पहिले परमात्मा का 'स्मरण' करना बहुत ही जरूरी है। स्मरण से शुद्ध भावना होती है और जैसी भावना होती है वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। क्योंकि कहा भी है—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

यहां एक बात विचारणीय है। ईश्वर तो अरूपी है, अनाम है फिर उसका स्मरण कैसे किया जाय ? जबतक मनुष्य इतना ऊंचा ज्ञानी न बने कि किसी का नाम या आलम्बन लिये बिना भी स्मरण कर सके, तबतक वह ईश्वर का स्मरण करने के लिये कोई भी नाम लेसकता है। नाम कुछ भी हो, किन्तु हमारा लक्ष्य सर्व शक्तिमान परमात्मा ही होना चाहिये, जो ईश्वर

पद को प्राप्त होचुका है। इसीलिये महापुरुषों ने ईश्वर की स्तुतिकरते हुए कहा है –

यस्य निखिलाश्च दोषा
न सन्ति, सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा
हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

अर्थात् जिसके समस्त दोष नष्ट होगये हैं, और जिसमें समस्त गुण ही विद्यमान हैं, ऐसे चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो या जिन हो, कोई भी क्यों न हो, उसको मेरा नमस्कार है। इसी प्रकार आचार्यश्री हेमचन्द्राचार्य ने सोमनाथ के मंदिर में जाकर यही प्रार्थना की थी:

यत्र तत्र समये, यथा तथा,
योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेत् भवान्
एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।

अर्थात् हे प्रभो! आप किसी भी समय में, किसी भी स्थिति में और किसी भी नाम से

पुकारे जाते हो, परन्तु आप ही एक ऐसे हैं, जो दुर्गुणों की कलुषता से दूर हैं। इस लिए हे भगवन्! आप को मेरा नमस्कार है।

कहने का आशय यह है कि—नाम कुछ भी लिया जाय, किन्तु यदि हम गुणों की ही पूजा करना चाहते हैं, तो हमें प्रभु का ही स्मरण करना चाहिये। और यदि वह शुद्ध भाव से किया जाय तो अवश्य ही उससे हृदय की शुद्धि होगी। महापुरुषों के नाम स्मरण से अवश्य हमारा हृदय पवित्र होता है, भावनाएं शुद्ध होती हैं, उनके गुणों का आदर होता है और हमें यथेष्ट प्रेरणा मिलती है।

यद्यपि नाम जड़ है, किन्तु जड़ में भी ऐसी शक्ति विद्यमान है, जिससे हमारे हृदय में जागृति उत्पन्न होती है, बल्कि धीरे धीरे हमारी आत्मिक शक्ति भी विकसित होजाती है।

- ११ -

दर्शन और स्पर्शन का महत्त्व

ईश्वर की स्मरण भक्ति हम देख चुके। अब इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण दर्शन और स्पर्शन भक्तिपर हम विचार करेंगे। हम एक वस्तु का नाम लेते हैं, उससे हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है, फिर हम उसे देखते हैं तो हमारा उसके प्रति प्रेम आरम्भ होजाता है और उसके बाद क्रमशः हम उसे स्पर्श करते हैं, जिससे उसके प्रति हमारा प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। यह हरएक मनुष्य के लिये स्वानुभव की बात है। जिस चीज की इच्छा होती है उसका नाम लेना--स्मरण करना, बाद में उसे देखना

और अन्त में उसका स्पर्श करना—यही इच्छा पूर्ति की पराकाष्ठा है। संसार में प्रत्येक मनुष्य को इस बात का अनुभव होता ही है। एक उदाहरण लिजिए।

कल्पना कीजिये, किसी एक गृहस्थ का लडका विलायत गया है। बरसों बीत गये, उसका कोई समाचार नहीं। मातापिता उसको भूल गये हैं। वर्षों के बाद अकस्मात् पिता के पास एक पोस्टकार्ड आता है। अक्षरों के देखते ही मालूम हुआ कि उसके पुत्र का पत्र है। पिताको खूब हर्ष होता है। पुत्र की बहुत याद आती है। मानों पुत्र की सम्पूर्ण आकृति उसके सामने खडी होजाती है। पुत्र के प्रति उसका वात्सल्य जागृत होजाता है। पोस्ट कार्ड के पढने से मालूम हुआ कि पहिली अप्रेल को वह अपने घर आयेगा। यद्यपि पहिली अप्रेल का आने में अभी ८ दिन बाकी हैं। परन्तु वे ८ दिन पिता को इसी भावना में—हर्ष में—व्यतीत होजाते हैं

कि मेरा पुत्र आरहा है और उसे मैं देखूगा। पहिली अप्रेल के दिन ठीक समय पर वह स्टेशन पर पहुंचता है, गाडी के आते ही दोनों की चारों आंखें एक होती हैं। पिता का हर्ष समाता नहीं—रोमरोम उसका प्रसन्न होजाता है। गाडी के पास चला जाता है। पुत्र गाडी से उतर कर पिता के चरणों में गिर जाता है, दोनों भुजाओं को पकडकर पिता पुत्र को छाती से लगाता है, मस्तक पर चुम्बन करता है—दोनों हर्ष में फूट फूट कर रोते हैं।

स्मरण की अपेक्षा दर्शन और स्पर्शन में कितना महत्त्व है यह समझना अब कठिन नहीं। इसीलिये हम कहते हैं कि ईश्वर की भक्ति स्मरण से की जाय। परन्तु इससे भी अधिक आनन्द प्राप्त करना है—ईश्वर के नजदीक विशेष रूप मे जाना है—तो हमें दर्शन और स्पर्शन भक्ति का भी अवलम्बन लेना चाहिये।

यहां एक शंका अवश्य हो सकती है। जब यह कहा जाता है कि, ईश्वर अरूपी है तब फिर उसका दर्शन और स्पर्शन कैसा। मूर्त पदार्थ के दर्शन और स्पर्शन हो सकते हैं परन्तु जो सर्वथा अदृश्य और अरूपी पदार्थ है उनके दर्शन और उनका स्पर्शन कैसे हो सकता है? इसका समाधान अगले प्रकरणमें पढ़िए।

- २७ -

मूर्तिमय जगत्

प्रकृतिने हमारे लिये ऐसे नियम बना रखे हैं कि ससार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जिसके लिये मनुष्य को निराश होना पड़े। अदृश्य, अगोचर, अरूपी वस्तुओं का दर्शन और स्पर्शन करने का भी साधन विद्यमान है और वह है मूर्ति। कैसी भी वस्तु क्यों न हो, हम मूर्ति के द्वारा हमारी कार्यसिद्धि कर सकते हैं। आवश्यकता है तो मात्र हृदय की भावना की। मूर्ति में हम जिस तरह के भाव स्थापित करेंगे, उसी प्रकार के फल की प्राप्ति हम कर सकते हैं। संसार का व्यवहार मूर्ति के ऊपर ही चल रहा है, बल्कि यों कहना

कि, यह जगत ही मूर्तिमय है। हम दुनिया म एक दूसरे को देखते हैं, यह सब मूर्ति नहीं तो और क्या है? भिन्न भिन्न देशवासीयों की पहिचान, राजा और रंक की पहिचान, साधु और गृहस्थ की पहिचान, रोगी और निरोगी की पहिचान, विशाल देशों की पहिचान आदि- ये सब किस आधार से होती है? एक मात्र मूर्ति पर से। गृहस्थ की गृहस्थी और साधु की साधुता किस प्रकार प्रत्यक्ष होती है? एक मात्र उसके वेश से। वेश से ही स्पष्ट होजाता है कि यह साधु है या गृहस्थ। विशाल भारत का ज्ञान छोटे बच्चे को कराना है और चार दीवारों के बीच में बैठकर कराना है। इसके लिये भारत का नक्शा ही साधनभूत है। यह नक्शा मूर्ति नहीं तो और क्या है? दीवार पर लगे हुए भिन्न भिन्न चित्रों को देखकर हम कहते हैं कि, यह तो कोई बहादुर आदमी है, यह तो कोई तपस्वी यह तो कोई विषयी आदमी है। यह सारी

बातें हमको कौन सिखा रहा है ? एक मात्र मूर्ति । जरा और आगे बढ़िये । जिस वस्तु का हम नाम नहीं ले सकते, उसको समझाने के लिये भी अगर कोई साधन है तो मात्र मूर्ति ही । ५२७ म स ५२७ घटाने से शेष कुछ भी नहीं रहता । परन्तु "कुछ नहीं" को समझाने के लिये भी हमको मूर्ति ही की शरण लेनी पड़ेगी । "कुछ नहीं" की मूर्ति है शून्य । विदेश में चल जाइए । वहाँकी भाषा हम नहीं जानते । हम प्यास और भूख लगी है। हम उस देश वासी से हमारा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं । उस समय भूख और तृषा की भावना की मूर्ति बनाकर हम उसके सामने खड़ी करेंगे । एक हाथ मुंह पर और दूसरा हाथ पेट पर रखकर हम बतलायेंगे । वह झट समझ जायगा कि इसे अन्न और पानी की जरुरत है। भगवान महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, शंकराचार्य और ऐसे और भी महापुरुष जो आज से

या हजारों वर्ष पूर्व हो चुके हैं उनके उपदेशों के परमाणु आकाश में फैल गये हैं परन्तु आज भी हम यह कह रहे हैं कि, यह भगवान महावीर की वाणी है, यह महात्मा बुद्ध का वचन है इत्यादि। उस वाणी का प्रतिबिम्ब-मूर्ति-या उसे जो कुछ भी कहना चाहें कहिये, यही उनके शास्त्र हैं। गुरु के आसन को, चाहे वह लकड़ी का हो या कपडे का, शिष्य उसे बहुमान की दृष्टि से ही देखता है, उसका आदर करता है वह समझता है यह आसन नहीं, बल्कि गुरु ही है। माता पिता के चित्र को दिखलाते हुए लडका यही कहेगा कि, ये मेरी माता है, ये मेरे पिता हैं। कागज और स्याही के होते हुए माता पिता की भावना से ही उनके चित्रों को मान देता है। ये सारी बातें स्पष्ट कर देती हैं कि सारा जगत् मूर्तिमय है और सारा व्यवहार मूर्ति से ही हो रहा है।

मूर्तिपूजा

मूर्त किंवा अमूर्त सभी पदार्थों के लिये हमें मूर्ति की जरूरत है। हृदय के भाव भी मूर्ति के द्वारा ही प्रकट किये जासकते हैं। इसी प्रकार जिस ईश्वर की हम पूजा करना चाहते हैं वह अरूपी और अदृश्य होते हुए भी, हम मूर्ति के द्वारा ही उसका दर्शन और स्पर्शन कर सकते हैं। जो आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर चुका है, वह अरूपी होते हुए भी, मनुष्य लोक में से ही ईश्वर की ज्योति में मिला है। इसी अपेक्षा से अपने आलम्बन के लिये उनकी मूर्ति बनाकर उनकी पूजा हम करनी चाहिये। मूर्तिपूजा, यह मूर्तिपूजा नहीं है, किन्तु मूर्ति के द्वारा ईश्वर

की पूजा है। पूज्य की पूजा है। मूर्तिपूजा करने के समय कोई यह भावना नहीं करता कि, 'यह तो मकराने का पत्थर है। इसे मकराने से निकाला, जयपुर के बाजार में ले गये और कारीगरों ने हथौड़े ठोक ठोक कर उसे आकार दिया'। नहीं, मूर्तिपूजा के समय उस मूर्ति में प्रभु का—अपने पूज्य व्यक्ति का आरोप करके ही उसकी पूजा की जाती है। प्राणप्रतिष्ठा द्वारा उसका नामकरण किया जाता है। बाद में, हमारी बुद्धि उस मूर्ति में मूर्ति रूप नहीं रहती, किन्तु प्रभु रूप हो जाती है। हमारी भावना उसको प्रभु स्वरूप ही देखती है। किसी भी वस्तु में मनुष्य जिस प्रकार की अपनी भावना को स्थिर करेगा, उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। भावना ही फल को देती है। द्रोणाचार्य के पास एकलव्य बाणविद्या सीखने को जाता है, द्रोणाचार्य इन्कार करते हैं। एकलव्य की श्रद्धा थी द्रोणाचार्य पर और उसका निश्चय था कि मैं धनुर्विद्या

सीखूंगा तो द्रोणाचार्य ही से। गीली मिट्टी से मनुष्य का पुतला बना कर उसमें द्रोणकी श्रद्धा स्थापित कर स्वयं बाणविद्या सीखता है। अर्जुन से बहुत आगे बढ़जाता है और वह दावे के साथ कहता है कि मैं बाण विद्या द्रोणाचार्य से ही सीखा हूं। जब लोग यह कहते हैं कि द्रोणाचार्य ने तुम्हें नहीं सिखाया, तब वह अपने झोपड़े में रखे हुए पुतले को दिखाकर कहता है कि, 'मेरे द्रोणाचार्य ये हैं और इन्हीं से मैंने बाणविद्या सीखी है'। कहने की आवश्यकता नहीं कि, भावना में ही भगवान है। किसी भी पदार्थ में जिस प्रकार की भावना स्थापित की जाय, उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। एक घर में पांच स्त्रियाँ हों, लेकिन पांचों में मनुष्य की बुद्धि भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। एक में मातृत्व बुद्धि, दूसरी में पत्नी की, तीसरी में बहिन की। स्त्री एक समान होते हुए भी घर के पुरुष की बुद्धि, भावना के अनुसार ही रहती है और

प्राप्ति होती है । इसी प्रकार मूर्ति में भी हमारी भावना प्रभु की है । राम, कृष्ण, महावीर आदि नाम लेकर उनकी प्रार्थना करनेवाले की भावना शहर के राम, कृष्ण, महावीर नामधारी व्यक्तियों से नहीं होती, किन्तु उनसे होती है, जो हजारों वर्ष पूर्व महापुरुष होगये हैं । महात्मा गांधीजी की समाधि पर हजारों लोग जाते हैं, वहां गांधीजी कहां हैं? परन्तु गांधीजी के अग्निसंस्कार का स्थान, यह गांधीजी की स्मृति कराता है, उनके गुणों की याद दिलाता है । इस लिए श्रद्धालुओं के लिए वह स्थान भी पवित्र है । इसी प्रकार चित्र, फोटू इत्यादि ।

एक बात अवश्य है । महापुरुषों की या भगवान की काल्पनिक मूर्ति-चित्र आदि ऐसे होने चाहिए जिससे हमारी मनोवृत्तियां किसी अन्य विकारों की तरफ न झुकें । हम पहिले दिखला चूके हैं कि मूर्ति की आकृति का प्रभाव हमारे दिल पर अवश्य ही होता है । जैसी मूर्ति होगी, वैसे ही

विचार हमारे दिल में आवेंगे। हमारा उद्देश है ईश्वर की मूर्ति से। ईश्वर वीतराग है, निर्विकार है मूर्ति भी उसी प्रकार की होनी चाहिये, जिसको देखकर हमारे अन्दर वीतरागता का भाव प्रकट हो और हमारे मनोविकार उसे देखते ही शान्त होजावें।

ईश्वर का ध्यान करने के लिये हमको मूर्ति के आलम्बन की आवश्यकता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय-इस त्रिपुटी की एकता के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। जबतक कि निरालम्बन ध्यान करने की शक्ति हम में उत्पन्न न हो, तबतक किसी न किसी का आलम्बन लेना मनुष्य के लिये आवश्यक है और वह आलम्बन वीतराग भाव को उत्पन्न करानेवाली मूर्ति का ही श्रेष्ठ है।

एक अथवा दूसरे रूप से हरएक धर्मवाले मूर्तिपूजा कर रहे हैं। यूरोप में जाइये, हरजगह वीर पुरुषों की, पूर्व पुरुषों आदर्श राजाओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं

मेला लगता है, पुष्प चढाये जाते हैं, बहुमान होता हैं। यह मूर्तिपूजा नहीं तो और क्या है ? मुसलमानों की मस्जिदों को देखिये। वे एक प्रकार की मूर्तियाँ नहीं तो और क्या है ? मक्का शरीफ की तरफ नजर करके नमाज पढना यह क्या दिखला रहा है ? कब्रस्तानों के ऊपर धूप दीप लगाना, यह क्या है ? पारसी लोग अग्नि को कितना महत्त्व देते हैं ? आर्यसमाजी दयानन्द सरस्वती के चित्रों का कितना आदर करते हैं ? गाडी में रखकर उस फोटो का जुलुस नीकालता, स्वामीजी की जय पुकारना, फूल हार चढाना–यह मूर्तिपूजा नहीं तो और क्या है ? जैन समाज क स्थानकवासी भाई गुरुओं की तस्वीरें घर घर में रखते हैं, काम पडने पर अन्य देव–देवीयों के पास जाकर सिर झुकाते हैं, श्रीफल नैवेद्यादि चढाते हैं। यह सब मूर्ति पूजा नहीं तो और क्या है ? ईसाई लोग क्राइस्ट के चित्र को कितना बहुमान देते हैं ? चर्च उनके मन्दिर नहीं तो और क्या है ?

पूजा पूजा ही है। किसी भी वस्तु का आदर या बहुमान करना यह पूजा नहीं तो और क्या है ? जिसके प्रति हमारी श्रद्धा है, जिसका हम पूज्य समझ रहे हैं, उसकी किसी भी चीज या उसके चित्र क बहुमान करना–आदर करना–यह मूर्तिपूजा क सिवाय और क्या है ? राष्ट्र के पिता महात्मा गांधीजी के निधन होनेके बाद उनकी प्रत्यक चीज आदरपूर्वक रक्खी गई, उनकी मूर्तिया का आयोजना जगह जगह हो रही ह यह सब पूज्य की पूजा मूर्तिपूजा नहीं तो और क्या है ? कागज क चित्र भी हमारे लिए पूज्य है, आदरणीय है अगर उसी वस्तु का कोई अपमान करता है, तिरस्कार करता है तो हमें कितना दुःख होता है ? कागज और स्याही से बने चित्र का कोई तिरस्कार करे तो हमें क्यों दुःख होना चाहिये ? परन्तु नहीं, उस चित्र को हम चित्र नहीं समजत । उसको हम पूज्य देव या गुरु समजते हैं ।

- १९ -

मूर्तिपूजा के भेद

पिछले प्रकरणों में हम यह बतला चुके हैं कि ईश्वर की भक्ति स्मरण से, दर्शन से और स्पर्शन से होती है। जिस प्रकार नामद्वारा स्मरण करके ईश्वर की पूजा की जाती है वैसे ही मूर्ति के द्वारा दर्शन और स्पर्शन कर के पूजा करना मनुष्य मात्र के लिये जरूरी है, और इन तीनों प्रकारों से पूजा करनेवाला अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। क्योंकि मूर्ति में हमारी भावना ईश्वर ही की है, न कि मूर्ति की।

प्रभु की पूजा दो प्रकार से होती है-एक द्रव्य पूजा और दूसरी भावपूजा। पूजा करने में मुख्य तो श्रद्धा ही है। मनुष्यकी जैसी श्रद्धा

होगी, वैसी ही वह अपने पूज्य की पूजा कर सकता है। पिता के चार लड़कों में उसके गुज़रने के बाद सिर्फ एक लड़का पिता को याद करके अपनी भक्ति प्रदर्शित करता है, दूसरा स्मरण भी करता हैं, साथ ही पिता की तस्वीर को घर में रखकर दर्शन भी करता है। तीसरा उस तस्वीर को स्पर्श करके अपने कपाल पर हाथ रखता है। चौथा, जो कुछ सामग्री होती है, वह पिता की तस्वीर के सामने नैवेद्य रूप धर, बाद में भोजन करता ह। चारोंमें पिता के प्रति भक्ति अवश्य है, लेकिन अपनी अपनी भावना और श्रद्धा के अनुसार ही उसका प्रदर्शन दिखलाते हैं। उसी प्रकार प्रभु की पूजा करने वाले भी द्रव्य और भाव दो प्रकार स पूजा कर सकते हैं। द्रव्यपूजा वह है जिसमें भक्त अपने उपयोग में आनेवाली चीज भक्तिपूर्वक प्रभु के समक्ष रखे। और

पूजा वह है जिस में भक्त प्रभु के समक्ष बैठ प्रभु की स्तुति-प्रार्थना करे । गृहस्थों के लिये यह दोनों-द्रव्य और भाव पूजा-उचित है।

संसार की ऐसी कोई भी क्रिया नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ आरंभ न होता हो-क्रिया न लगती हो । प्रभुपूजा करने में एकेन्द्रिय-पानी-विगैरः जीवों की अनिवार्य हिंसा अवश्य होती है । परन्तु जो गृहस्थ गृहस्थाश्रम में रहते हैं, उनका कौनसा ऐसा काय है जिसमें अनिवार्य एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा न होती हो । बल्कि संसारत्यागी साधु भी उपदेशों के निमित्त विहारादि करने में जीवों की हिंसा से सर्वथा नहीं बच सकते । हमें तो मात्र करना है लाभालाभ का विचार । पचास हजार के व्यापार में अगर दस पांच हजार का फायदा हो और एक दो हजार कस्टम ड्यूटी के देने भी पड़ें, तो यह नुकसान नुकसान नहीं गिना जायेगा। साधु उपदेश देते हैं, वर्षा गिरती है, फिर भी गृहस्थ उस

पानी में उपदेश सुनने को जाते हैं। पानी के जीवों की हिंसा होते हुए गृहस्थ लोग उपदेश का लाभ उठाने जाते हैं और साधु भी अपना कर्तव्य समझ कर लोककल्याण की भावना से उपदेश करते ही हैं। क्योंकि जहाँ क्रिया है, वहाँ कर्म है, लेकिन कर्म का आत्मा के साथ जो बन्धन है, वह तो परिणाम–भावना के अनुसार ही होता है। छोटी या बडी, धार्मिक या सांसारिक, शारीरिक, मानसिक या वाचिक किसी भी प्रकार की क्रिया साधु करे या गृहस्थ करे, कर्म अवश्य होता है। लेकिन उसके बन्धन का आधार परिणाम–अभिप्राय–के ऊपर है। अगर हमारा इरादा बुरा नहीं है, तो हमें उस कर्म का बन्धन वैसा नहीं होगा जैसा कि दुष्ट बुद्धि से इच्छापूर्वक कोई काम किया जाता है। हाथ में खेलाते हुए मित्र का बच्चा अकस्मात् हाथ से छूट जाय, और गिरकर जाय; किन्तु खेलानेवाला खूनी नहीं

जाता। उनके ऊपर खून का आरोप नहीं हो सकता। एक मनुष्य किसी को मारने के लिये उसके पीछे दौड़ता है, माना कि वह मनुष्य उसके हाथ न चढ सका, और उसे चोट भी न पहुंचा सका। फिर भी पुलिस उसे गिरफ्तार करेगी और खून के इरादे का जुर्म लगाकर उस पर मामला चलायेगी। इसी प्रकार किसी भी धार्मिक क्रिया में जैसा हमारा परिणाम होगा, वैसी ही हमको फल की प्राप्ति होगी। जैसे क्रिया में कर्म और परिणाम के अनुसार बन्धन दिखलाया गया है, इसी प्रकार किसी भी धर्मक्रिया में धर्म के फल की प्राप्ति हमारे अभिप्राय के ऊपर आधार रखती है। अभिप्राय का मतलब है खयाल, विचार। किसी भी क्रिया को करते हुए, हमें खूब विचार रखने की आवश्यकता है। हमें निरर्थक बिना प्रयोजन स्वार्थान्ध होकर धर्म के निमित्त भी किसी जीव को सताने का कोई हक नहीं

है। अनावश्यक जितनी भी क्रियाएँ की जायँ, उनमें फायदे के बदले नुकसान ही है। धर्म के बदले अधर्म है। इसी लिये त्यागी साधुओं को भी अपनी प्रत्येक क्रिया में उपयोग-ख्याल-विचार रखने को कहा गया है और अगर इसी उपयोग से क्रियाए की जाय तो उनको दोष नहीं लगे।

श्रीदशवैकालिक सूत्र में शिष्य गुरु से प्रश्न करता है -

कह चरे? कह चिट्ठे? कह मासे? कह सए?
कह भुंजतो भासतो? पाव कम्म न बंधइ।

अर्थात् हे भगवन्! मैं कैसे चलूं? कैसे बैठूं? कैसे सोऊं? कैसे खड़ा होऊं? कैसे खाऊं? और कैसे बोलूं? जिससे मुझे पाप न लगे? क्योंकि ये कार्य अनिवार्य करने तो पड़ते ही हैं। गुरु इसका एक ही उपाय दिखलाते हुए कहते हैं:

जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जय सए
जय भुंजतो, भासतो पाव कम्म न

अर्थात्–उपयोग अर्थात् अपने लिये दूसरे को कष्ट न हो इसी भावनासे चलना, बैठना, सोना, खाना, बोलना आदि क्रियाएं हों, तो पाप नहीं हो सकता। मतलब यह है कि–गृहस्थ या साधु सभी को कुछ न कुछ तो क्रियाएं करनी ही पड़ती हैं, लेकिन उन क्रियाओं में खूब ख्याल रख कर विचार रखना। क्रियाऐं हमेशां इसी प्रकार करना चाहिये जिसमें अनावश्यकता का अनुभव न हो। प्रभुपूजा में भी खूब उपयोग–विचार–रख कर पूजा करने से अवश्य लाभ होता है।

प्रभुपूजा का एकान्त हेतु अन्तःकरण की शुद्धि है। प्रभु की पूजा ऐहिक सुखों के लिये नहीं, पारमार्थिक सुखों के लिये होना चाहिये। शुद्ध भावनापूर्वक प्रभुपूजा करनेवाले के अन्त करण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होना, यही धर्म है। द्रव्य पूजा के साथ भाव पूजा के लिये मन्दिर में प्रवेश करते हुए आधि, व्याधि और उपाधि को भूल जाना चाहिये।

प्रभु की प्रार्थना, उनका गुणगान, मातुपीभार से की हुई साधना, सहे हुए कष्ट, सकल शक्तियों का चिंतन-यही भाव पूजा में होना चाहिये। इसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से ईश्वर की पूजा करना गृहस्थों के लिये परमावश्यक है।

हमारी ग्रंथमाला की पुस्तकें

नंबर	नाम	कर्ता या संपादक	किंमत		
२	धर्म विद्योतमाला	हिमांशुविजयजी	०	२	६
३	प्रमाणनयतत्त्वालोक (पं श्रीरामगोपालाचार्यजी की टीकायुक्त)	,,	१	१	६
१९	जैनी सप्तपदार्थी	,,	०	६	३
३७	श्री पर्वकथासंग्रह	,,	०	५	०
३९	श्री द्वादशव्रतकथा	,,	०	१०	०
४९	संस्कृत प्राचीन स्तवन संदोह	विशालविजयजी	०	४	०

गुजराती अनुवादयुक्त संस्कृत पुस्तको

नंबर	नाम	कर्ता या संपादक	किंमत		
८	जयन्त प्रबन्ध	हिमांशुविजयजी	०	४	०
२७	सुभाषित पद्यरत्नाकर भा १	विशालविजयजी	१	९	०
३०	अर्हद् प्रवचन	विद्याविजयजी	०	६	३
३१	सुभाषित पद्यरत्नाकर भा २	विशालविजयजी	१	९	०
३४	सुभाषित पद्यरत्नाकर भा ३	,,	१	९	०
३६	हेमच प्रबन्धनासूत्र	जयन्तविजयजी	०	१०	०

४८ सुभाषित पद्यरत्नाकर मा. ५	विशालविजयजी	०	१२	६
५१ „ मा ४	„	१	९	०

गुजराती पुस्तकें

१ विजयधर्मसूरि स्वर्गवास पछी	विद्याविजयजी	१	०	०
९ विजयधर्मसूरिनां वचनकुसुमो	„	०	५	०
१० आबू (७१ चित्रो साथे) जय तविजयजी		३	४	०
११ विजयधर्मसूरि टूंक जीवनरेखा	धीरजलाल टो शाह	०	२	६
१२ श्रावकाचार	विद्याविजयजी	०	३	०
१३ राणी सुलसा	„	०	४	०
१४ समयने ओळखो मा. २	विद्याविजयजी	१	८	०
१५ „ भा १	„	१	०	०
१७ सम्यक्त्व प्रदीप	मंगलविजयजी	०	६	८
१८ विजयधर्मसूरि पूजा	„	०	५	०
२१ ब्रह्मचर्य दिग्दर्शन	विजयधर्मसूरिजी	०	५	०
२२ बच्चा बने	विद्याविजयजी	०	५	०
२३ महाकवि शोभन अने तेमनी कृति	—			
२४ ब्राह्मणवाडा				

२५ जैनतत्वज्ञान	विजयधर्मसूरिजी	०	४	०
२६ द्रव्यप्रदीप	मंगलविजयजी	०	५	०
२८ धर्मोपदेश	विजयधर्मसूरिजी	०	७	६
२९ सप्तभंगी प्रदीप	मंगलविजयजी	०	५	०
३२ धर्मप्रदीप	,	०	५	०
४० श्री अर्बुद प्राचीन जैन लेखसंदोह (आबु भा २)	जयन्तविजयजी	३	१२	०
४५ श्री विद्याविजयजीनां व्याख्यानो	विद्याविजयजी	०	१०	०
४६ श्री हिमांशुविजयजीना लेखो	,	१	८	०
५१ जैन धर्म (नवी आवृत्ति)	,,	१	०	०
५३ मारी सिन्धयात्रा	,	३	२	०
५५ अमारा गुरुदेव	रा. सुशील	१	९	०
५६ अहिंसा	डॉ. पुरुषोत्तम त्रिपाठी	१	४	०
५७ शंखेश्वर महातीर्थ भा १-२	जयन्तविजयजी	१	९	०
५८ मारी कच्छयात्रा	विद्याविजयजी	०	१०	०
६० सर्वज्ञकथित सिद्धांतसार	रतिलाल फुलचंद शाह	१	०	०

हिन्दी-सिन्धी और अंग्रेजी पुस्तकें

४ श्रावकाचार	विद्याविजयजी	०	५	०
५ श्री विजयधर्मसूरिके वचनकुसुम	विद्याविजयजी	०	५	०
७ Saying of Vijay Dharm Suri	Dr Krause	0-5-0		

९ विजयधर्मसूरि अष्ट प्रकारी पूजा	विद्याविजयजी	०	५	०
१९ An Ideal Monk A	J Sonawala	6-4-0		
२० ब्रह्मचर्य दिग्दर्शन	श्रीविजयधर्मसूरि	०	५	०
२१ मेरी मेवाडयात्रा	श्रीविद्याविजयजी	०	४	०
३५ यको यको		०	७	०
३७ अहिंसा	,,	०	२	०
४१ तत्वोद्धार(सिन्धी)	पावती सी पढवामी	भेट		
४२ वीरवचन	वीरभक्त	०	५	०
४३ अहिंसा (सिंधी)	पावती पढवामी	भेट		
४४ पुलन मुड (सिन्धी)	,,	,,		
४७ जैनधर्म (हिन्दी)	विद्याविजयजी	०	५	०
५० नयी उत्पत्ति (सिन्धी)	पावती ना पढवामी	भेट		
५४ Religious Social Discourses	Muni Vidya Vijayji	1-0-0		
५५ Monk and Monarch	,	6-4-0		
६१ ईश्वरवाद	,,	१	०	
६० इन्दौर-व्याख्यानमाला	,,	१२	८	

अन्य पुस्तकें

१ पाइअसद्दमहण्णव (प्राकृत महाकोष) व हरगोविंददास शेठ		७५	०
२ उत्तराध्ययनसूत्र (कमलसंयमी भा २ टीका) स श्रीजयंतविजयजी		३	८
३	भा ३ ,,	३	
४ ,,	भा ४ ,,	३	

५ तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि
भाष्यसहितानि उमास्वाति ८ ० ०

६ स्याद्वादरत्नाकर भा १ वादिदेवसूरि ६ ० ०

७ „ भा २ „ ६ ० ०

८ „ भा ३ „ ६ ० ०

९ „ भा ४ ६ ० ०

१० आबू भा १ जयन्तविजयजी १ ० ०

११ जिनवाणी (गुजराती) सुशील १ ० ०

१२ धर्मदेशना (गुजराती) विजयधर्मसूरि १ ० ०

१३ तत्त्वार्थसूत्र भा १
(विवेचनयुक्त) सुखलालजी १ ० ०

१४ An Interpretation of
Jain Ethics Dr Krause 0-4-0

१५ The Kaleidoscope of
Indian Wisdom Dr Krause 0-4-0

१६ The Heritage of Indian
Wisdom „ 0-4-0

१७ सोनेरी सा सद्गुणो मदनलाल मास्तर खराश ० १२ ०

१८ प्रभुना पथे „ ० १२ ०

१९ सतसमागम „ ० १२ ०

श्री विजयधर्मसूरि ग्रंथमाला,
शिवपुरी (ग्वालियर)

है ? दिन के बाद रात और रात के बाद दिन
बनानेवाला क्या कोई व्यक्ति है ? ऋतुओं का
परिवर्तन क्या कोइ व्यक्ति करता है ? गर्भ में
आया हुआ जीव धीरे धीरे बढ़ता है, कलेवर
बनता जाता है, क्या उसका शरीर कोई व्यक्ति
मिट्टी लगा कर बढ़ाता जाता है ? नहीं, यह सब
स्वभाव वश ही होता रहता है। वस्तु मात्र अपने
अपने स्वभावानुसार क्रिया करती रहती है। इसके
लिये न तो ईश्वर की जरुरत है, न किसी अन्य
वस्तु की। गीता के पांचवें अध्याय में स्पष्ट ही
कहा है:-

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते।
नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत प्रभुः।
अज्ञानेनावृत ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव।

अर्थात् परमात्मा जगत को बनाता नहीं,
लोगों के कर्मों को उत्पन्न करता नहीं, कर्मों के

फल का संयोग करता नहीं, किन्तु यह सब स्व-
भाव से ही होरहा है। किसी के पुण्य पाप के
उत्तरदायी नहीं। अज्ञान से ज्ञान आवृत्त होने के
कारण संसार के जीव भ्रममें पड जाते हैं अर्थात्
संसार के समस्त पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है,
जिसके कारण सब क्रियाएँ स्वयं ही होती रहती
हैं। अग्नि का स्वभाव है उष्णता, पानी का स्व
भाव है शीतलता, वायु का स्वभाव है गति-
शीलता, इसी प्रकार सभी पदार्थों में अपने अपने
स्वभाव विद्यमान हैं। सभी पदार्थ अपने अपने
स्वभावों के अनुसार क्रियाएँ करते रहते हैं।
इसी लिये कहा गया है-"वत्थु सहावो धम्मो"
अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है।

है ? दिन के बाद रात और रात के बाद दिन बनानेवाला क्या कोई व्यक्ति है ? ऋतुओं का परिवर्तन क्या कोई व्यक्ति करता है ? गर्भ में आया हुआ जीव धीरे धीरे बढ़ता है, कलवर बनता जाता है, क्या उसका शरीर कोई व्यक्ति मिट्टी लगा कर बढ़ाता जाता है ? नहीं, यह सब स्वभाव से ही होता रहता है। वस्तु मात्र अपने अपने स्वभावानुसार क्रिया करती रहती है। इसके लिये न तो ईश्वर की जरूरत है, न किसी अन्य वस्तु की। गीता के पांचवें अध्याय में स्पष्ट ही कहा है:-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं प्रभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

अर्थात् परमात्मा जगत को बनाता नहीं, लोगों के कर्मों को उत्पन्न करता नहीं, कर्मों के

रल का संयोग करता नहीं, किन्तु यह सब स्व-
भाव से ही होरहा है। किसी के पुण्य पाप के
उत्तरदायी नहीं। अज्ञान से ज्ञान आवृत्त होने के
कारण संसार के जीव भ्रममें पड जाते हैं अर्थात्
संसार के समस्त पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है,
जिसके कारण सब क्रियायें स्वयं ही होती रहती
हैं। अग्नि का स्वभाव है उष्णता, पानी का स्व
भाव है शीतलता, वायु का स्वभाव है गति-
शीलता, इसी प्रकार सभी पदार्थों में अपने अपने
स्वभाव विद्यमान हैं। सभी पदार्थ अपने अपने
स्वभावों के अनुसार क्रियायें करते रहते हैं।
इसी लिये कहा गया है-"वत्थु सहावो धम्मो"
अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है।